भारत में औरतें

कितनी आज़ाद ? कितनी बराबर ?

कल्याणी मेनन-सेन
ए.के. शिव कुमार

भारत में औरतें
कितनी आज़ाद ?
कितनी बराबर ?

कल्याणी मेनन-सेन
ए.के. शिव कुमार

अनुवाद
वीणा शिवपुरी

संयुक्त राष्ट्र संघ के भारत में स्थानिक समन्वयक के कार्यालय द्वारा अधिकृत रिपोर्ट

2002

मुख पृष्ठ डिज़ाइन तथा चित्रांकन – बिंदिया थापर

डिज़ाइन तथा प्रस्तुति – मैनसा कमप्यूटर्स प्रा. लि.

mensa@vsnl.com

विषय सूची

आमुख

संयुक्त राष्ट्र संघ विकास सहायता कार्य ढाँचे (यू एन डी ए एफ़) के तहत भारत में संयुक्त राष्ट्र व्यवस्था के लिए सरकार ने, जेंडर विकास को बढ़ावा देने को एक रणनीतिगत लक्ष्य के रूप में पहचाना है।

यू एन डी ए एफ़, संयुक्त राष्ट्र व्यवस्था का एक कार्य ढाँचा है जो सरकार की प्राथमिकताओं के आधार पर साझे उद्देश्यों, रणनीतियों तथा सहयोग की साझी कल्पनाओं के साथ काम करता है। भारत में यू एन डी ए एफ़ का जन्म संयुक्त राष्ट्र परिवार तथा सरकार, निजी क्षेत्र व संचार माध्यमों सहित नागरिक समाज तथा विकास क्षेत्र के अन्तर्राष्ट्रीय सहयोगियों के साथ गहरी चर्चाओं के बाद हुआ। भारत, उन कुछ देशों में था जहाँ यू एन डी ए एफ़ प्रक्रिया पहले शुरू हुई।

योजना आयोग, जो यू एन डी ए एफ़ के लिए संयुक्त राष्ट्र व्यवस्था की प्रेरक इकाई है, ने इस कार्य ढाँचे को पूरे जोश के साथ बढ़ावा दिया है। योजना आयोग के माननीय उपाध्यक्ष श्री के. सी. पंत ने यू एन डी ए एफ़ के दस्तावेज़ की प्रस्तावना में कहा है ''जेंडर असमानताएँ, सामाजिक, आर्थिक जीवन के अनेक पक्षों - स्वास्थ्य, शिक्षा, संसाधन, आमदनी, सम्पत्ति में झलकती हैं। इसलिए आवश्यक है कि व्यापक रूप से समाज तथा विकास सहयोगियों के साथ अपने प्रत्येक सम्पर्क के समय जेंडर समानता का संदेश दिया जाना चाहिए।''

राज्य सभा की माननीय उपाध्यक्षा, मानव संसाधन के सांसदीय मंच की अध्यक्षा तथा यू एन डी ए एफ़ की मानव विकास प्रतिनिधि डॉ. नजमा हेपतुल्ला ने भारत में संयुक्त राष्ट्र व्यवस्था के साथ मानव विकास के लिए, विशेष रूप से यू एन डी ए एफ़ के मुद्दों की पैरवी करने में अहम् भूमिका निबाही है।

''भारत में औरतें - कितनी आज़ाद ? कितनी बराबर ?'' संयुक्त राष्ट्र तंत्र द्वारा अधिकृत एक स्वतन्त्र और विश्लेषणात्मक रिपोर्ट है। यह संयुक्त राष्ट्र परिवार से यू एन डी ए एफ़ के पहले प्रयत्नों में से एक है। यह रिपोर्ट औरतों की आज़ादी और जेंडर समानता के मुद्दों को, सार्वजनिक बहस के मैदान के बीचों बीच लाने की एक छोटी सी कोशिश है, ताकि ये हर नागरिक के सरोकार बन सकें।

Brenda Gail McSweeney

ब्रेंडा गेल मैकस्वीनी
संयुक्त राष्ट्र की स्थानिक समन्वयक तथा
यू एन डी पी की स्थानिक प्रतिनिधि

नई दिल्ली, मार्च 2002

आभार

निम्न लोगों के साथ चर्चाओं से लेखक लाभान्वित हुए हैं :

डॉ. ब्रेंडा गेल मैकस्वीनी

यू एन डी ए एफ़, सलाहकार समूह

जेंडर तथा विकास पर कार्यरत संयुक्त राष्ट्र का अन्तर्संस्था समूह

लेखक निम्न लोगों के प्रति आभार प्रकट करते हैं :

अखिला शिवदास, आभा भैया, एन. सी. सक्सैना, कमला भसीन, कमला चौधरी, खुरशीद अनवर, गीता मेनन, जसजीत पुरेवाल, जयति घोष, नित्या राव, पैमला फिलीपोज, पूनम मुतरेजा, मीना स्वामीनाथन, रत्ना कपूर, रितु मेनन, रोहिणी नैयर, रूचिरा गुप्ता, शबाना आजमी, सईदा हमीद, सरला गोपालन, सास्वती घोष, वी. गायत्री, विमला रामचन्द्रन, वीना मजूमदार।

टिप्पणी

इस पुस्तिका में तथा तालिकाओं में दिए गए आँकड़े अविभक्त उत्तर प्रदेश, बिहार तथा मध्य प्रदेश के हैं सिवाए वहाँ जहाँ स्रोत भारतीय जनगणना 2001 है (जिसमें उत्तरांचल, झारखण्ड तथा छत्तीसगढ के लिए अलग आँकड़ें दिए गए हैं।)

औरतों की आज़ादी और समानता : भारत की प्रतिबद्धता

कभी न कभी हम सभी ने ऐसी टिप्पणियाँ सुनी है कि ''जेंडर एक पश्चिमी धारणा है। हमें, भारत में इसकी ज़रूरत नहीं हैं।'' ऐसी सोच को सही साबित करने के लिए कई तर्क दिए जाते हैं । हमें बताया जाता है कि भारत में अनादिकाल से देवी पूजा होती आई है। हमारे प्राचीन इतिहास में हमें कई महिला विदुषियों, शासकों की मिसालें मिलती हैं। पुराणों और लोक कथाओं से यह साबित करने के लिए कहानियाँ याद दिलाई जाती हैं कि भारत में सदा से औरतों का मान-सम्मान और आदर होता आया है । और सच में इस बात पर गर्व है कि भारत, दुनियाँ के उन कुछ पहले देशों में से है जहाँ औरतों को वोट देने का अधिकार मिला । भारतीय संविधान भी दुनियाँ के सबसे प्रगतिशील संविधानों में से एक है जो औरतों और मर्दों को समान अधिकारों का आश्वासन देता है । ये सभी बातें यह साबित करने के लिए सुबूत के तौर पर दी जाती हैं कि भारतीय औरतें, समाज की स्वतन्त्र व समान सदस्य हैं।

इसी के साथ सुबूतों का एक और पुलिन्दा भी है- वह आधिकारिक आँकड़े, जो सरकारी रिपोर्टों, स्थानीय सर्वेक्षणों के मालूमात तथा सबसे महत्वपूर्ण सुबूत संचार माध्यमों में दर्ज औरतों और मर्दों के रोज़मर्रा के तजुर्बों में मिलते हैं। ये हमारे सामने एक और ही तस्वीर प्रस्तुत करते हैं।

- भारत में औरतों की तुलना में अधिक पुरुष है जबकि अधिकांश अन्य देशों में स्थिति इससे बिल्कुल उलट है। सन् 2001 के आँकड़ों के अनुसार भारत में प्रति 1000 मर्दों पर 933 औरतें हैं। इस असंतुलन का कारण है कि अनेक लड़कियाँ तथा औरतें वयस्क होने से पहले ही मर जाती हैं।

- अधिकांश औरतें जीवन भर ज़रूरत से कम पोषण पातीं हैं- उनमें खून की कमी होती है और वे कुपोषित होती हैं । परिवार के भीतर लड़कियों को पोषण संबंधी भेदभाव का सामना करना पड़ता है। वे सबसे अंत में और सबसे कम खाती हैं।

- एक औसत भारतीय औरत जब पहली बार माँ बनती है तो उसकी उम्र 22 साल से कम होती है। उसका, अपनी प्रजनकता और प्रजनन स्वास्थ्य पर शायद ही कोई नियंत्रण होता है।

- 76% मर्दों की तुलना में सिर्फ 54% भारतीय औरतें साक्षर हैं। लड़कों की तुलना में लड़कियाँ बहुत कम संख्या में स्कूल जाती हैं। जब लड़कियों को स्कूल भेजा भी जाता है तो कुछ सालों में ही उन्हें निकाल लिया जाता है।

- मर्दों की तुलना में बहुत कम औरतें सवेतन श्रम शक्ति का हिस्सा हैं। औरतों के काम की कद्र और मान्यता कम है। औरतें, मर्दों से अधिक घंटे काम करती हैं, घरेलू और सामुदायिक काम का मुख्य बोझ उठाती हैं जिसके लिए उन्हें कोई पैसा नहीं मिलता और जो दिखाई भी नहीं देता।

- एक जैसा काम करने पर भी मर्दों की तुलना में औरतों को कहीं कम मज़दूरी मिलती है। किसी भी राज्य के कृषि क्षेत्र में औरतों और मर्दों को बराबर मज़दूरी नहीं मिलती।

- शासन में और निर्णय लेने वाले पदों पर औरतों का बहुत कम प्रतिनिधित्व है। वर्तमान समय में 8% से कम संसदीय सीटों पर, 6% से कम मंत्रि मंडलीय पदों पर, 4% से कम उच्च न्यायालय और उच्चतम न्यायालय की कुर्सियों पर औरतें हैं। 3% से कम प्रशासक और प्रबन्धक औरतें हैं।

- ज़मीन और सम्पत्ति के अधिकारों में तो औरतों के साथ कानूनन भेदभाव किया जाता है। ज़्यादातर औरतों की अपने नाम पर कोई सम्पत्ति नहीं होती और उन्हें पिता की सम्पत्ति में अपना हिस्सा नहीं मिलता।

- औरतें जीवन भर परिवार के भीतर और बाहर हिंसा का सामना करती हैं। पुलिस रिकॉर्ड के अनुसार देश में हर 26 मिनट पर एक औरत के साथ यौन छेड़छाड़, हर 34 मिनट पर एक बलात्कार और हर 42 मिनट पर यौन उत्पीड़न होता है। हर 43 मिनट पर एक औरत अगवा की जाती है। हर 93 मिनट पर एक औरत मार दी जाती है।

लोगों की नज़र

केवल आँकड़े पूरी कहानी नहीं सुनाते। संचार माध्यमों में औरतों तथा उनके मुद्दों का चित्रण भी भारतीय समाज में औरतों के दर्जे का संकेतक है। 1999 में किए गए जन संचार माध्यमों के एक सर्वेक्षण ने बताया कि टेलीविजन समाचारों में औरतों के मुद्दों को मिलने वाला समय न के बराबर है।

- मर्दों की मौजूदगी मुख्य थी- सभी समाचार कार्यक्रमों में औरतों को सिर्फ़ 14% जगह मिली। इसी प्रकार से राजनैतिक समाचार खंड में औरतों को सिर्फ 7% समय दिया गया।

- प्रतिनिधित्व बहुत पूर्वाग्रह ग्रस्त है- मर्दों को अलग-अलग भूमिकाओं में दिखाया जाता है जबकि औरतों को लगभग हमेशा ही पारम्परिक स्त्रियोचित भूमिकाओं में दिखाया जाता है।

- औरतों के मुद्दों को जगह देने के लिए कोई नियम नहीं है और उन को किस ढंग से पेश किया जाएगा वह भी अनिश्चित और व्यक्तिपरक है।

(स्रोत: सैन्टर फॉर एडवोकेसी एण्ड रिसर्च, 2000)
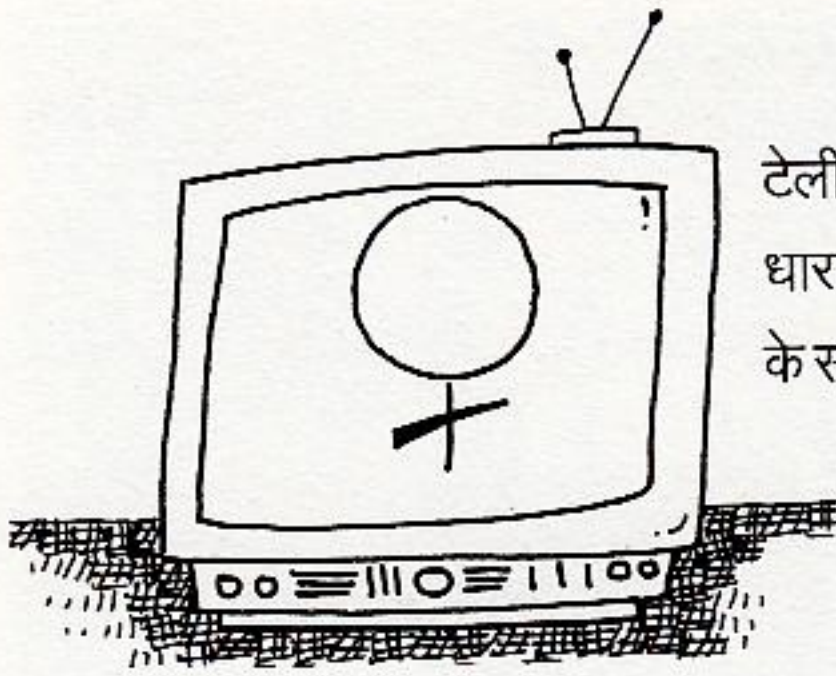
टेलीविजन के प्रसारण समय में औरतों को बहुत अधिक जगह मिलती है – वह है धारावाहिकों तथा नाटकों में। 1996 में टी.वी. के मुख्य समय के लोकप्रिय धारावाहिकों के सर्वेक्षण से कुछ उत्साहजनक ढर्रे सामने आए। महिला चरित्रों को घर से बाहर काम करती हुई, मज़बूत व्यक्तित्व वाली तथा अपनी स्वतन्त्र पहचान बनाने की कोशिश करती हुई दिखाया जा रहा है।

- सिर्फ़ एक तिहाई महिला मुख्य पात्रों को व्यवसाय संभालते हुए या वकील, पत्रकार, फैशन डिज़ायनर, विज्ञापन प्रबन्धक, सेकरेटरी और डॉक्टर के रूप में काम करते हुए दिखाया गया।
- मर्दों को पुराने ढर्रे के अनुसार व्यवसाय में घाटे या प्यार में निराशा से जूझते हुए दिखाया गया। दूसरी ओर औरतों को कई तरह के जटिल दबावों का सामना करते हुए दिखाया गया जैसे रिश्तों का टूटना और बच्चों के साथ झगड़ों से लेकर उन पर व्यक्तिगत हमले के खतरे और ब्लेकमेल तक।
- कामकाजी औरतों को महत्वाकांक्षी, गुस्सैल, चिड़चिड़ी, कपड़े लत्तों और बर्ताव में सनकी, लेन-देन में बेइमान, रिश्तों को निबाहने में असफल और बच्चों की समस्याओं से उलझती हुई दिखाया गया। उनका चित्रण इतना बढ़ा-चढ़ा कर किया गया कि यौन उत्पीड़न, शादी, माता-पिता की भूमिका आदि जैसे उठाए गए महत्वपूर्ण मुद्दे, हल्के और विरूपित होकर मज़ाक बन गए।
- बच्चों को, विशेषतः लड़कियों को गिरी हुई जीवनशैली का शिकार दिखाया गया जबकि कुछ अन्य को मनोवैज्ञानिक रूप से विक्षिप्त, और अपने साथियों व दोस्तों पर भरोसा न कर पाने वाली दिखाया गया।

(स्रोत : अखिला शिवदास 1996)

1999 में करीब एक महीने तक अंग्रेजी के दो मुख्य दैनिक अखबारों के विश्लेषण से मालूम हुआ कि आज भी प्रकाशन माध्यमों में औरतों को सिर्फ़ हाशिए पर जगह मिलती है। अनेक अखबार तथा पत्रिकाएँ आज भी औरतों के मुद्दों से जुड़े लेख-सिर्फ़ साप्ताहिक जेंडर पृष्ठों पर ही छापते हैं। मुख्य पृष्ठों पर औरतों की मौजूदगी या तो विज्ञापनों में होती है या अपराध और सामाजिक घटनाओं के समाचारों में। क्रिकेट समाचार करीब 20% जगह घेर लेते हैं, औरतों के गंभीर मुद्दों से कहीं ज़्यादा।
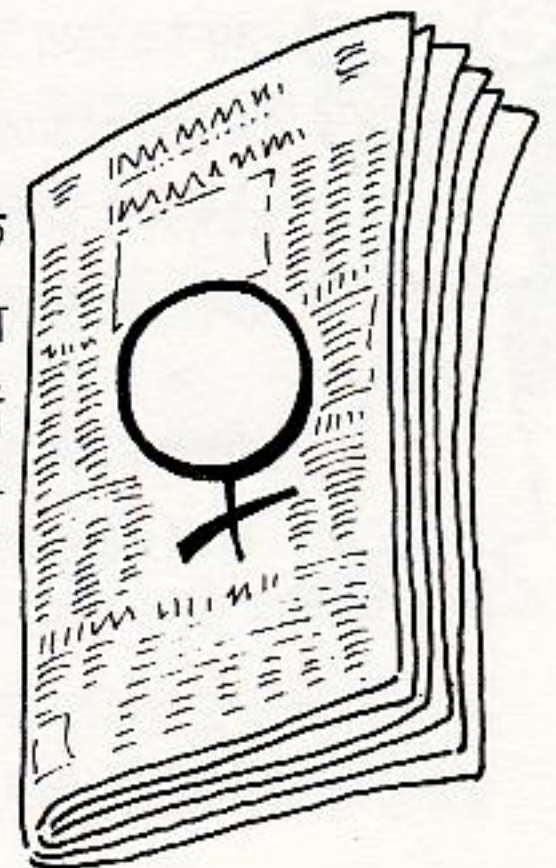
अंग्रेज़ी दैनिक में औरतों के मुद्दों को मिलने वाली तुलनात्मक जगह
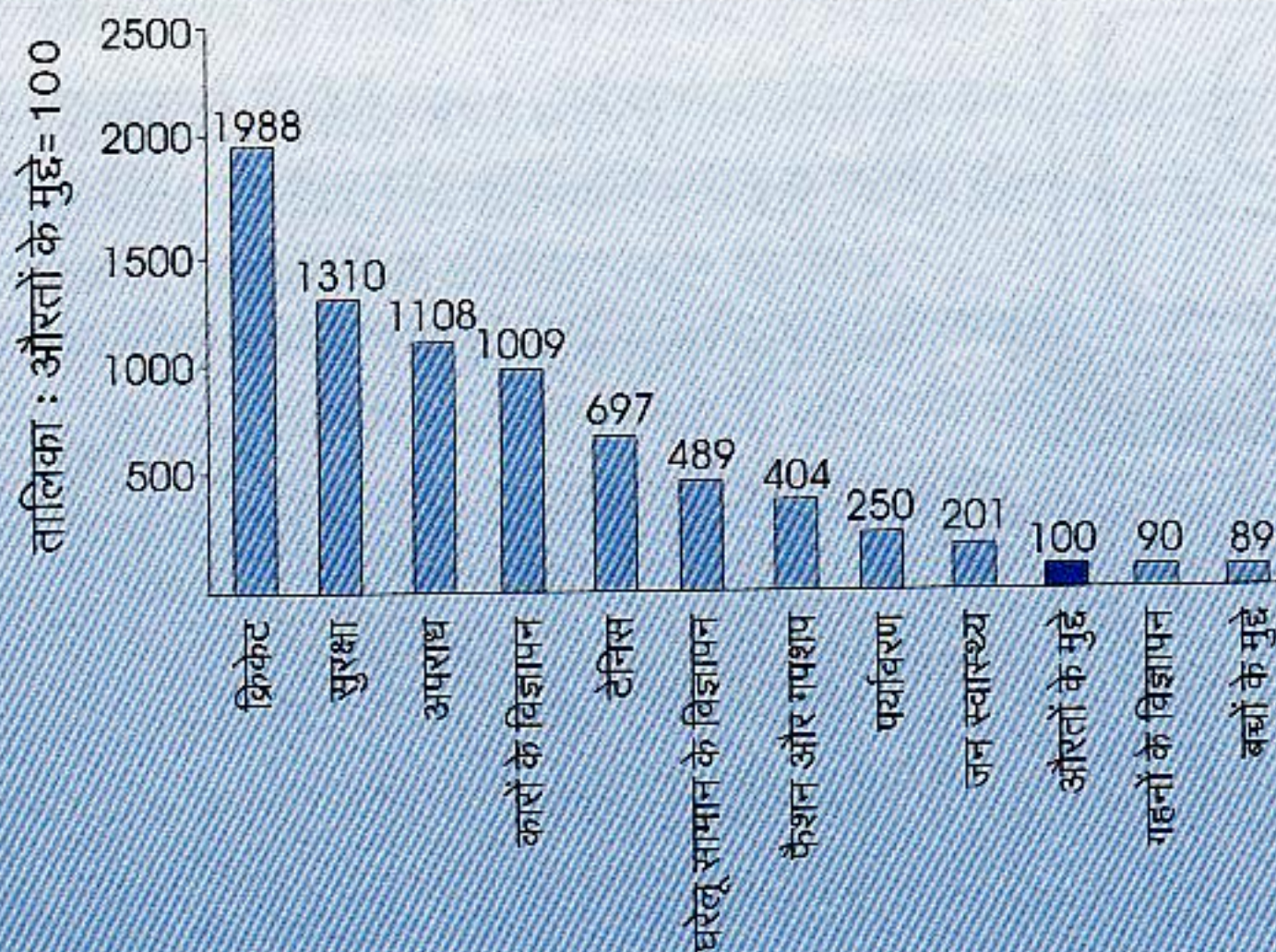
(स्रोत : 1999 में दो मुख्य अंग्रेजी दैनिकों के सैम्पल - दिल्ली संस्करण)

संवैधानिक वचन

भारत की राष्ट्रीयता के मूल में स्वतन्त्रता, समानता तथा सामाजिक न्याय है। भारतीय संविधान वचन देता है ''कि सभी लोगों को मुहैया कराएगा....सामाजिक आर्थिक तथा राजनैतिक न्याय, दर्जे, अवसरों तथा कानून के सामने समानता, सोचने, अभिव्यक्त करने, विश्वास, विचार, पूजा, रोज़गार, जुड़ाव तथा कार्रवाई की आज़ादी बशर्ते वह कानून तथा सार्वजनिक नैतिकता के खिलाफ़ न हो।''

संविधान बड़ी दृढ़ता से स्वतन्त्रता, भाईचारा, समानता और न्याय के सिद्धान्तों में जड़े जमाए हुए है। यह सभी के लिए व्यापक स्वतन्त्रता के महत्व पर ज़ोर देता है तथा इसमें महिला सशक्तिकरण के लिए अनेक प्रावधान हैं। औरतों के समानता तथा ग़ैर भेदभाव के अधिकार को न्याय योग्य मूलभूत अधिकार के रूप में परिभाषित किया गया है। संविधान ने बड़े साफ़ शब्दों में स्पष्टीकरण किया है कि महिलाओं के लिए सकारात्मक कार्रवाई योजनाएँ, लिंग के आधार पर ग़ैर भेदभाव के सिद्धान्त के खिलाफ़ नहीं है। औरतों की समानता के लिए विशिष्ट स्वतन्त्रताएँ ज़रूरी हैं- एकत्रित होने व आने जाने की स्वतन्त्रता, अवसरों तथा श्रम अधिकारों के बारे में अलग से कहा गया है।

संविधान, समानता की किसी अमूर्त धारणा के प्रति सिर्फ़ किताबी बातें नहीं करता। उसमें औरतों की समानता तथा स्वतन्त्रता के व्यवहारिक आयामों की गहरी समझ झलकती है।

भारतीय संविधान सभी भारतीय औरतों को विश्वास दिलाता है

- कानून के सामने समानता। **अनुच्छेद 14**
- धर्म, नस्ल, जाति, लिंग, जन्म स्थान या इनमें से किसी के भी आधार पर कोई भेदभाव नहीं। **अनुच्छेद 15 (1)**
- महिलाओं तथा बच्चों के पक्ष में सरकार द्वारा विशेष प्रावधान बनाए जाएँ। **अनुच्छेद 15 (3)**
- रोज़गार तथा सरकार के अन्तर्गत किसी भी कार्यालय में नियुक्ति के मामले में सभी नागरिकों के लिए अवसरों में समानता। **अनुच्छेद-16**
- औरतों तथा मर्दों के लिए समान रूप से, रोज़गार के पर्याप्त साधनों का अधिकार सुनिश्चित कराने के लिए सरकार को नीति निर्देश। **अनुच्छेद - 39 (ए)**
- औरतों तथा मर्दों दोनों के लिए समान काम का समान वेतन। **अनुच्छेद 39 (डी)**
- काम की मानवीय परिस्थितियाँ तथा मातृत्व सहायता सुनिश्चित करने के लिए सरकार द्वारा प्रावधान बनाना। **अनुच्छेद 42**
- सामंजस्य को बढ़ावा देना तथा औरतों की गरिमा के खिलाफ़ जाने वाले तौर-तरीकों का परित्याग। **अनुच्छेद 51 (ए) (ई)**

भारत में कितनी औरतें रहती हैं ?

पिछली गिनती के समय यानि जनगणना 2001 के अनुसार भारत की कुल 1.03 अरब की जनसंख्या में 49 करोड़ 60 लाख औरतें हैं। सन् 2016 तक अनुमान है कि भारत में औरतों की संख्या 60 करोड़ 15 लाख हो जाएगी।

भारत में औरतों की जनसंख्या कनाडा, अमरीका तथा रूसी संघ की सम्मिलित कुल जनसंख्या से ज्यादा है।

♀=♂?
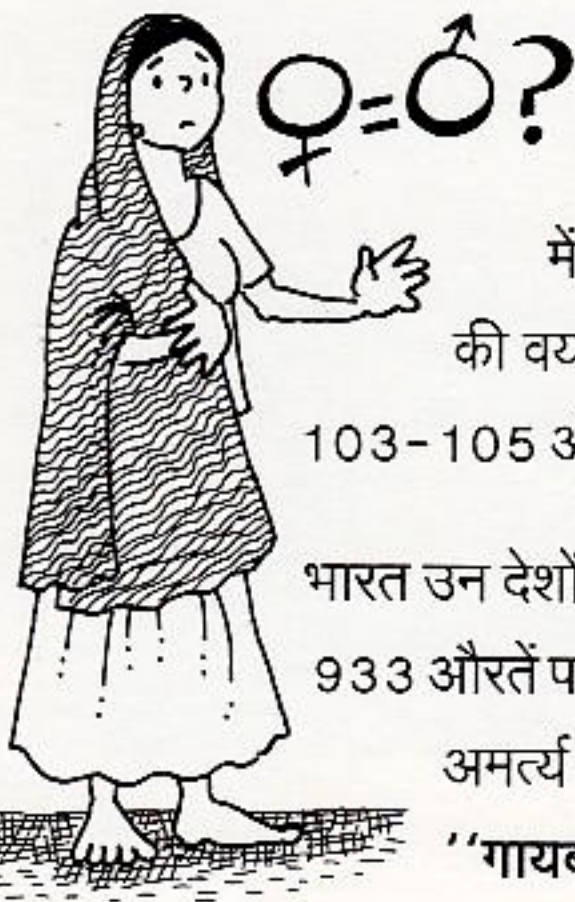
जनसंख्या में औरतों तथा मर्दों की संख्या के अनुपात से हमें उस देश में जेंडर समानता के स्तर के बारे में काफी कुछ पता चल जाता है। जैविकीय रूप से औरतें अधिक सशक्त लिंग हैं। जिन समाजों में औरतों तथा मर्दों के साथ समान बर्ताव किया जाता है वहाँ वे मर्दों से ज़्यादा जीती हैं। इस प्रकार से वहाँ की वयस्क जनसंख्या में औरतों की संख्या मर्दों से ज़्यादा होती है। सामान्य रूप से हर 100 मर्दों पर 103-105 औरतें होने की आशा की जा सकती है।

भारत उन देशों में से एक है जहाँ इससे उलट स्थिति है। सन् 2001 की जनगणना में हर 1000 मर्दों पर सिर्फ 933 औरतें पाईं गईं। सिर्फ़ केरल को छोड़कर अन्य सभी राज्यों में औरतें मर्दों से कम थीं। नोबेल पुरस्कार विजेता अमर्त्य सेन के तर्क के अनुसार **भारत को अपनी 1.03 अरब की वर्तमान जनसंख्या में से 3.2 करोड़ ''गायब हुई औरतों'' का हिसाब देना है।** कुछ राज्यों को अन्य से ज़्यादा जवाब देना होगा।

सन् 2001 में हरियाणा और पंजाब में उनकी ऊँची प्रति व्यक्ति आय के बावजूद प्रति 1000 पुरुषों पर क्रमशः सिर्फ़ 861 और 874 स्त्रियाँ थीं। आमदनी के नज़रिए से सबसे कमज़ोर राज्यों में से एक उड़ीसा में प्रति 1000 पुरुषों पर 972 स्त्रियाँ पाई गईं।
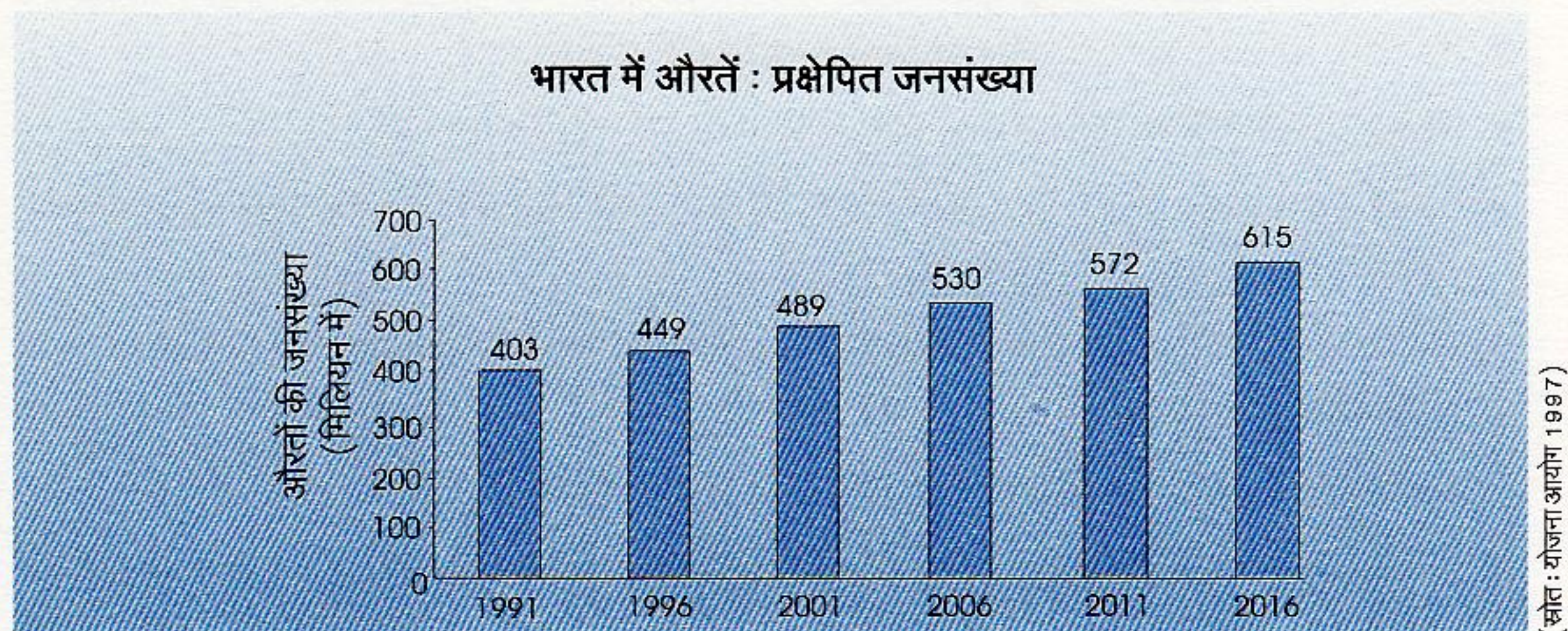
पिछले कुछ दशकों में भारत ने अपनी औरतों व बच्चों के लिए स्वास्थ्य देखरेख और पोषण के क्षेत्र में जितनी तरक्की की है उसे देखते हुए यह आशा की जा रही थीं कि जनसंख्या में औरतों का अनुपात लगातार बढ़ता जाएगा। यह बहुत ही दुःख की बात है कि इससे उलट हुआ है। **पिछले 100 सालों में स्त्री पुरुष अनुपात सुधरा नहीं है बल्कि बिगड़ा है।**

प्रति 1000 पुरुषों पर

1901	1911	1921	1931	1941	1951	1961	1971	1981	1991	2001
972	964	955	950	945	946	941	930	933	927	933

(स्रोत : रजिस्ट्रार जनरल तथा जनगणना कमिश्नर 2001)
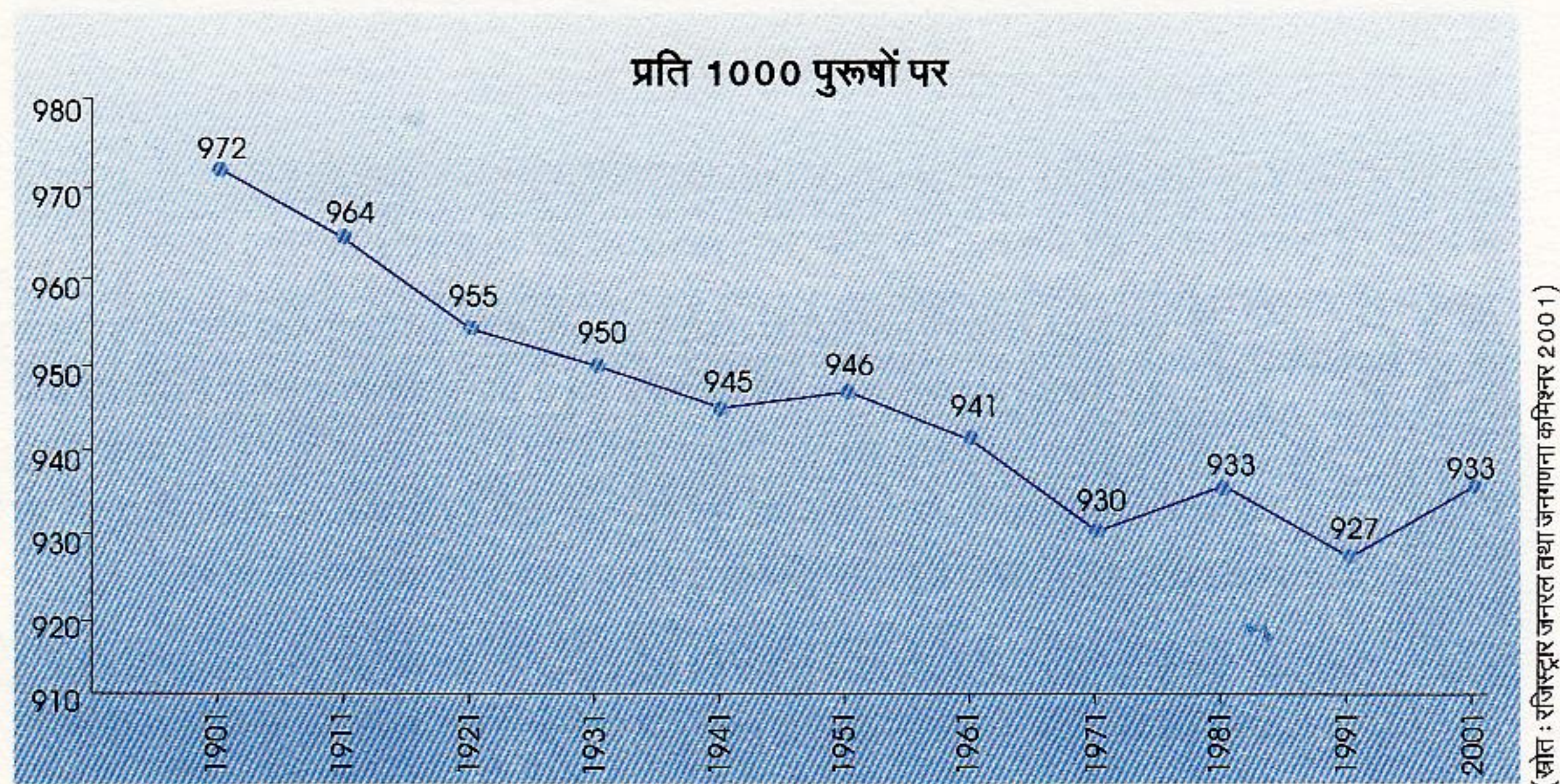
ग़ायब औरतें

यदि भारत में औरतों तथा मर्दों के साथ समान बर्ताव किया जाता तो हम यह आशा कर सकते थे कि यहाँ प्रति 100 पुरुषों पर 105 स्त्रियाँ होतीं। इस प्रकार 1.03 अरब की वर्तमान जनसंख्या में 52.8 करोड़ औरतें होनी चाहिए थीं।

उसके स्थान पर आज के आँकड़े बताते हैं कि भारत में सिर्फ़ 49.6 करोड़ औरतें हैं। इसका अर्थ है कि भारत में क़रीब 3.2 करोड़ औरतें गायब हैं। कुछ को तो पैदा ही नहीं होने दिया जाता है और बाकी जल्दी मर जाती हैं क्योंकि उन्हें जीने के अवसर ही नहीं दिए जाते।

मर्दों की तुलना में औरतों के गिरे हुए अनुपात का स्पष्टीकरण सिर्फ़ इसी तथ्य से हो सकता है कि भारत में आज भी औरतें दूसरे दर्जे की नागरिक हैं। इसका सुबूत है कि जन्म से ही औरतों को उनके हक़ और जायज़ अधिकार नहीं मिलते हैं और उनके साथ अनेक तरीक़ों से भेदभाव किया जाता है।

सन 1991 में भारत के आदिवासी समाजों में, जहाँ पारम्परिक रूप से औरतों का ऊँचा सामाजिक दर्जा होता है प्रति 1000 पुरुषों पर 973 स्त्रियाँ थी। यह संख्या सभी जातियों के सम्मिलित औसत 923 से काफ़ी ऊँची है। यह तब है जबकि अन्य जातियों की तुलना में आदिवासी समाजों का आमदनी, शिक्षा, स्वास्थ्य, संसाधनों व सेवाओं तक पहुँच का स्तर नीचा है।

प्रतिज्ञा को दोहराना

भारत ने संयुक्त राष्ट्र समझौतों तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञाओं को अपना समर्थन देने में हमेशा देशों की अगुवाई की है जैसे कि औरतों के ख़िलाफ़ भेदभाव के सभी रूपों की समाप्ति का समझौता (सीडॉ) और बेजिंग कार्रवाई मंच। राष्ट्रीय योजनाएँ तथा नीतियाँ भी लगातार प्रगति की संकल्पना को लेकर चली हैं जो प्रगति को सिर्फ़ आय संवर्धन के सीमित दायरे में नहीं बाँधती बल्कि मानव अधिकार, आज़ादी तथा सभी के लिए कल्याण के लक्ष्य को पाने पर ज़ोर देती हैं।
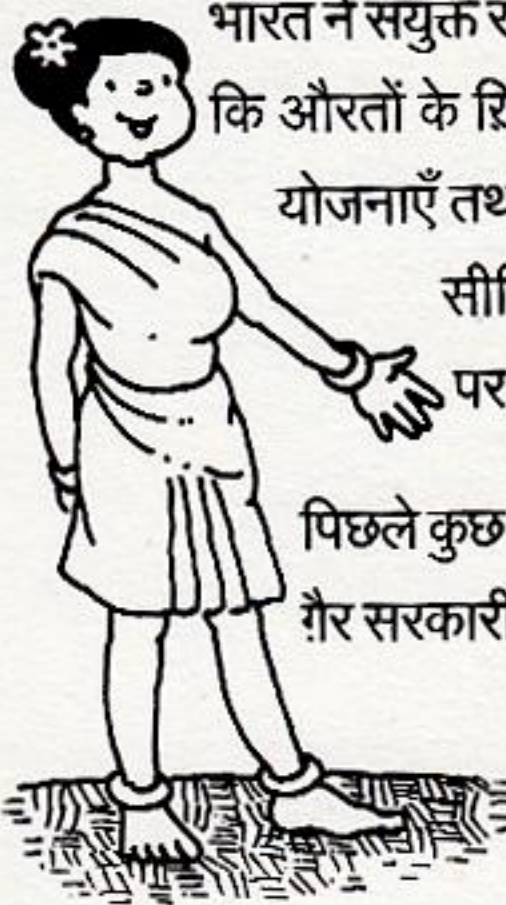
पिछले कुछ सालों में भारतीय समाज में औरतों का दायरा बढ़ा है जो सरकार की सकारात्मक नीतियों, कार्यक्रमों, ग़ैर सरकारी संस्थाओं तथा अन्य नागरिक समाज समूहों के प्रयत्नों का नतीजा है। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह कि यह परिवर्तन खुद औरतों द्वारा वर्षों तक दृढ़ निश्चयी पैरवी करने, अभियान चलाने तथा बदलाव के लिए कार्रवाई करने का नतीजा है।

लेकिन अभी भी खामियाँ हैं। जबकि कुछ औरतें सशक्त और आत्म विश्वासी व्यक्तित्वों के रूप में उभर रही हैं जिनका अपने जीवन पर नियंत्रण है और जो अपने अधिकारों के लिए आवाज उठाने में सक्षम है, औरों के लिए सचाई बिल्कुल फ़र्क है जो पूछने को मजबूर करता है कि क्या गिलास आधा भरा है या आधा खाली है ?''

आज, संविधान लागू होने के पचास साल बाद स्थिति का जायज़ा लेने के लिए समय बिलकुल उचित है। भारतीय औरतें कितनी आज़ाद हैं? वे कितनी बराबरी पर हैं? औरतों के लिए स्वतंत्रता और समानता की संवैधानिक प्रतिबद्धता किस हद तक पूरी हुई है। इन सवालों के जवाब महत्वपूर्ण हैं न सिर्फ औरतों के दर्जे का अंदाजा लगाने के लिए बल्कि यह जानने के लिए कि संविधान में दिए गए व्यापक स्वतंत्रता और समानता के आश्वासन को पूरा करने में भारत ने कितनी प्रगति की है।

संवैधानिक स्वतन्त्रताएँ तथा अधिकार

•

अभावों से स्वतन्त्रता
तथा
एक समुचित जीवन स्तर का आनन्द लेने का अधिकार

•

बिना शोषण के काम करने का अधिकार

•

लिंग, जातियता या धर्म के आधार पर भेदभाव से स्वतन्त्रता

•

अन्याय से स्वतन्त्रता
तथा
विधि नियमों के उल्लंघन से स्वतन्त्रता

•

भय से स्वतन्त्रता
तथा
व्यक्तिगत सुरक्षा के लिए खतरों, हिंसक कार्रवाइयों, मनमाने ढंग से गिरफ्तारी और यातना से बचाव का हक़

•

विचार तथा बोलने की स्वतन्त्रता
निर्णय लेने की प्रक्रिया में भागीदारी का अधिकार

इस रिपोर्ट में कुछ स्पष्ट सवाल पूछे गए हैं। भारत में औरतों के लिए आज़ादी और बराबरी का क्या मतलब है? क्या उन्हें अपनी सम्भावनाएँ विकसित करने की आज़ादी है और उन्हें क्या करना है या बनना है इसका चुनाव कर सकती हैं? क्या उनमें ज्ञान प्राप्त करने की, रचनात्मक और उत्पादक होने की तथा लम्बा व स्वस्थ जीवन जीने की क्षमता है? क्या वे आज़ादी छीनने वाले मुख्य स्रोतों से सुरक्षित हैं जैसे हिंसा, भेदभाव, अभाव, भय तथा अन्याय? क्या उनके पास मर्दों के बराबर मौके और चुनाव, उन्हीं शर्तों पर हैं? कुल मिलाकर आज भारतीय औरतें कितनी आज़ाद हैं? मर्दों के कितनी बराबर हैं?

दुर्भाग्य से इन सवालों के सरल या स्पष्ट जवाब नहीं हैं

आज़ादी और बराबरी के कई महत्वपूर्ण आयामों और पक्षों को नापा नहीं जा सकता। मिसाल के लिए मानव गरिमा, आत्म सम्मान, मानसिक और भावनात्मक सुरक्षा तथा दूसरों द्वारा कद्र किए जाने का विश्वास, जो सभी हमारे जीवन के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं लेकिन हमारे पास उन्हें नापने या तोलने के कोई आसान तरीके नहीं है।

फिर भी जीवन के कई ऐसे पक्ष हैं जिन्हें नापा-तोला जा सकता है। इस रिपोर्ट में व्यापक रूप से स्वीकृत संकेतकों का इस्तेमाल करते हुए कुछ पक्षों पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। ये संकेतक, उपलब्धियों के स्तरों के अलावा औरतों तथा मर्दों के बीच समानता के स्तर भी प्रतिबिम्बित करते हैं।

स्तरों का और ढर्रों का अनुमान लगाने की शुरूआत के लिए आँकड़े फ़ायदेमंद होते हैं परन्तु संख्याओं से विश्लेषण का आरम्भ होना चाहिए, अन्त नहीं। संख्याओं के पीछे छिपी सच्चाइयों को समझना महत्वपूर्ण है कि वे लोगों के जीवन की परिस्थितियों, उन्हें मिलने वाली आज़ादी और चुनाव के मौकों के बारे में क्या बताती है?

संख्याओं के पीछे क्या है ?

आँकड़ों को हमेशा जैसे वे दिखते हैं वैसा नहीं समझा जा सकता। मिसाल के लिए रोजगार के आँकड़े हमें बताते हैं कि एक औरत क्या करती है और कितना कमाती है। इस मापदण्ड से एक सा काम करने और बराबर कमाने वाली दो औरतें आँकड़ों के अनुसार एक-समान हैं और बराबर समझी जाएँगी। परन्तु संख्याओं के पीछे बिलकुल फ़र्क सचाइयाँ हो सकती हैं। थोड़ा-सा गहराई में जाने से शायद पता लगे कि वे दोनों औरतें आज़ादी और सुरक्षा के दो विरोधी ध्रुवों पर जीती हैं।

एक औरत के पास काम करने के अलावा शायद दूसरा कोई रास्ता न हो वरना उसका परिवार सड़क पर आ जाएगा। दूसरी औरत शायद अपने शौक को पूरा करने के लिए काम करती है। उसके लिए काम करना मजबूरी नहीं है। पहली औरत चाहे वेतन कम हो तब भी अपनी नौकरी से चिपकी रहेगी क्योंकि जो थोड़ा बहुत भी वह कमाती है उसके जीने के लिए वह महत्वपूर्ण है। दूसरी औरत भी शायद अपनी नौकरी से चिपकी रहे लेकिन इसलिए कि जो कुछ वो कर रही है वह उसे बहुत अच्छा लगता है। उसकी तन्ख्वाह कोई मायने नहीं रखती।

इसी प्रकार जो दो औरतें बाहर काम नहीं करती हैं आँकड़ों के हिसाब से उनका दर्जा बराबर है लेकिन वे भी सुरक्षा के दो भिन्न स्तरों पर जी सकती हैं। एक शायद इसलिए काम न कर पाती हो क्योंकि रिवाज और परम्पराएँ उसे घर से बाहर क़दम रखने की इजाजत न देती हों दूसरी के सामने शायद सारे अवसर होने के बावजूद उसने बाहर काम न करने का फ़ैसला किया हो।

श्रम आँकड़ों के पीछे भी कई ग़ैर स्वतन्त्राएँ छिपी रहती हैं। अर्थशास्त्री प्रायः 'मुक्त बाजार मजदूरी दर' की बात करते हैं। यह वो दर है जो श्रम की माँग और आपूर्ति के आधार पर तय होती है।

परन्तु बाज़ार मज़दूरी दर कितनी मुक्त या स्वतन्त्र होती है? एक औरत जो अपनी मेहनत बेच कर ही ज़िंदा रहती है, उसके पास और कोई सहारा नहीं है। अगर उसे काम नहीं मिलता तो शायद वह ग़ैर वाजिब मज़दूरी और काम के दबावपूर्ण हालात भी मंज़ूर करने के लिए मज़बूर हो जाएगी। क्या वह इस बाज़ार में स्वतन्त्र है? या एक औरत कम वेतन वाला काम करते रहने के लिए विवश है क्योंकि उसे पढ़ाई और अवसर न मिले हों - क्या वह स्वतन्त्र है?

औरतों की तरक्की का अनुमान लगाते हुए हमें औरतों की आज़ादी की कमी और अन्य कई घटकों के बीच के सम्बन्धों को भी देखना चाहिए। सामाजिक रीति रिवाज और रवैये, साक्षरता और स्वास्थ्य के स्तर, आर्थिक बढ़ोतरी के ढर्रे, निजी तथा सार्वजनिक निर्णय प्रक्रिया, राजनैतिक प्रतिबद्धता-ये सब मिलकर हमारे समाज में स्वतन्त्रता और चुनाव, समानता और शोषण की कार्यकारी हदें तय करते हैं।

इस रिपोर्ट के बारे में

इस रिपोर्ट में एक अहम सवाल को समझने की कोशिश की गई है : ''भारत में औरतें जो करना चाहती हैं और जो बनना चाहतीं हैं, उसका चुनाव करने के लिए वे किस सीमा तक आज़ाद हैं ?''
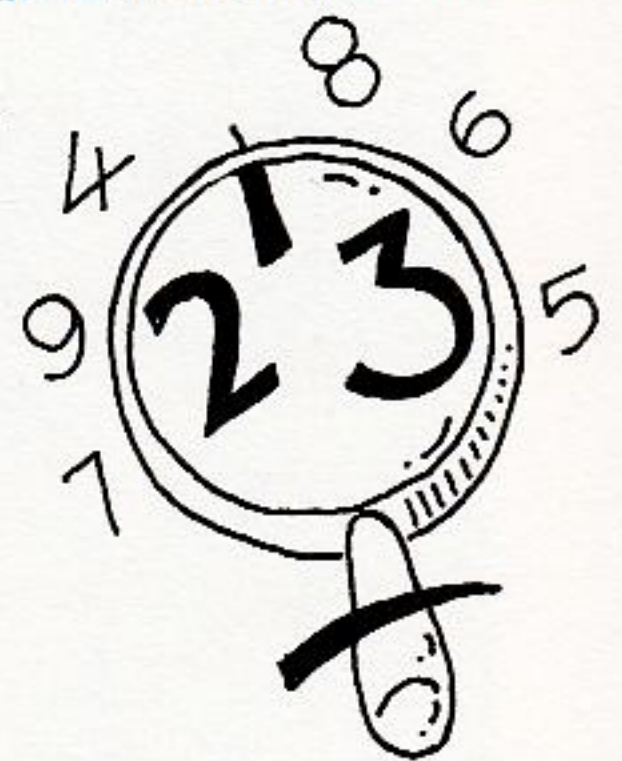
मानव विकास का सम्बन्ध लोगों के लिए विकल्प बढ़ाने, उनकी क्षमताओं का विकास करने और उनकी आज़ादी को बढ़ावा देने से है। इस विकास के लिए ज़रूरी है कि आज़ादी घटाने वाले मुख्य स्रोतों को हटाया जाए : भेदभाव से आज़ादी, अभाव से आज़ादी, भय से आज़ादी, अन्याय से आज़ादी। यह भी ज़रूरी है कि नागरिकों को उनकी संभावनाओं के विकास की आज़ादी, विचार और बोलने की आज़ादी निर्णय प्रक्रिया में सहभागिता की आज़ादी तथा शोषण के बग़ैर काम करने की आज़ादी के बारे में आश्वस्त किया जाए।

इस तरह का सोच पारम्परिक आर्थिक परिप्रेक्ष्य से अलग है जो प्रगति और विकास को सिर्फ़ आमदनी में बढ़ोतरी के साथ जोड़कर देखता है। आमदनी की अहमियत है लेकिन सिर्फ़ हर नागरिक को उसके मानव अधिकारों और समुचित जीवन स्तर का आश्वासन देने के साधन के रूप में। विकास को, देश में उपलब्ध चीजों और सेवाओं की संख्या में वृद्धि या अर्थव्यवस्था की बढ़ोतरी दर या इन्टरनेट के विस्तार से नहीं नापा जा सकता। ये सभी चीज़ें ज़रूरी हैं लेकिन अन्ततः जो बात अहम है वह है कि ये चीज़ें लोगों के जीवन की गुणवत्ता पर किस तरह असर डाल रही हैं।

इसलिए यह सवाल पूछना जरूरी है : ***'आज भारत में औरतें कितनी आज़ाद है – जो वो करना चाहें, करने के लिए और जो वो बनना चाहें, बनने के लिए?'***

विकास की माँग है कि अवसरों की समानता हो, यानि सभी नागरिकों की आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक अवसरों तक समान पहुँच हो। इस विषय में भारत की क्या स्थिति है? दूसरा उतना ही महत्वपूर्ण सवाल पूछना पड़ेगा : मर्दों के संदर्भ में औरतें कितनी बराबर हैं?

यह रिपोर्ट औरतों की आज़ादी और समानता के कुछ महत्वपूर्ण पक्षों पर अपना ध्यान केन्द्रित करती है जिसके लिए हाल के कुछ ऐसे सुबूतों का इस्तेमाल किया है जो ऐसी चर्चाओं से जुड़े मिथकों और ग़लतफहमियों पर रोशनी डालते हैं।

- भरपूर जीवन जीने की आज़ादी
- स्वस्थ जीवन का अधिकार
- शिक्षा का अधिकार
- बिना शोषण के काम करने का अधिकार
- निर्णय का अधिकार
- भय से आज़ादी
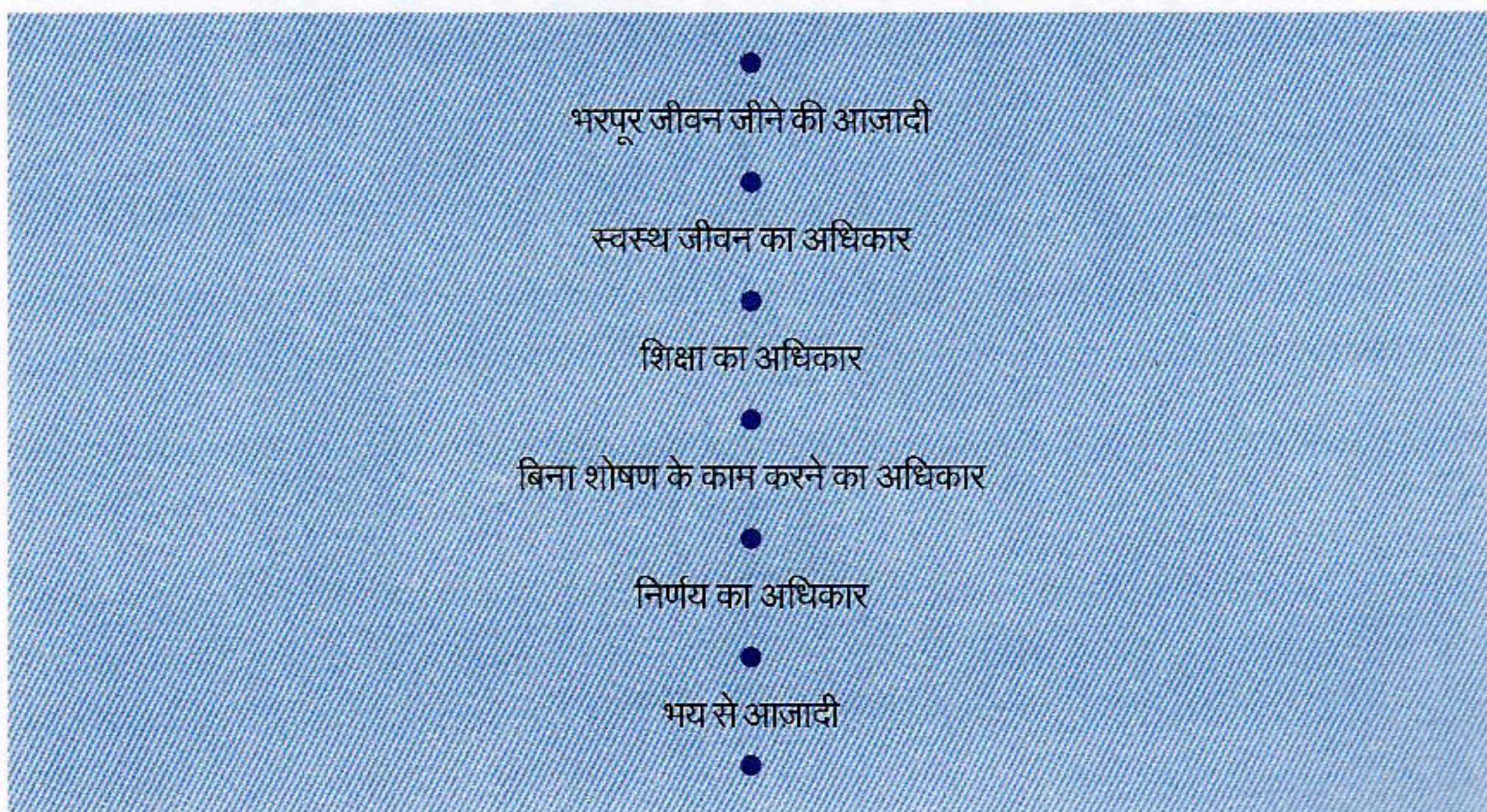
समाज वैज्ञानिक, नीति निर्माण तथा विकास से जुड़े पेशेवर लोग निश्चय ही इस रिपोर्ट में दिए गए आँकड़ों से परिचित होंगे। फिर भी ऐसी चीज़ें आम जानकारी में नहीं होतीं जैसा कि एक अति लोकप्रिय टी.वी. क्विज़ शो में मौजूद विभिन्न वर्गों के जानकार समझे जाने वाले लोगों के प्रदर्शन से पता लगा। अधिकांश सहभागी फिल्मी परिवारों की वंशावली या हिन्दू धार्मिक पुस्तकों के चरित्रों के खूब जानकार थे लेकिन वर्तमान भारतीय समाज से जुड़े मुद्दों पर लड़खड़ाने लगे।

आज आर्थिक बढ़ोतरी, विदेशी पूँजी निवेश, बड़ी कम्पनियों का विलय या क्रिकेट में मैच फिक्सिंग जैसे मुद्दे औरतों तथा मर्दों के जीवन और परिस्थितियों के बारे में उपलब्ध जानकारी और एक दूसरे के संदर्भ में दोनों की स्थिति आदि की तुलना में अधिक जगह और लोगों का ध्यान पाते हैं।

यह रिपोर्ट औरतों की आज़ादी और जेंडर समानता के मुद्दों को सार्वजनिक बहस के मैदान के बीचों बीच लाने की एक छोटी सी कोशिश है ताकि ये सरोकार सिर्फ़ ऐक्टिविस्टों, शोध कर्ताओं या नीति निर्माताओं के न रह कर हर नागरिक के हो जाएँ। यह रिपोर्ट पूर्वाग्रह रहित होने का दावा नहीं करती ना ही यह व्यापक, निर्णायक या निर्देशात्मक है। जिन मुद्दों और सवालों पर रोशनी डाली गई है तथा जिन पक्षों को नज़र अंदाज किया गया है वे लेखकों के परिप्रेक्ष्य और प्राथमिकताएँ दर्शाते हैं।

उम्मीद है कि यह रिपोर्ट बहुत सी औरतों तथा मर्दों तक पहुँचेगी- स्कूल अध्यापक, स्वास्थ्य कर्मी, वकील, राजनेता, पंचायत सदस्य, संचार माध्यम के लोग, विकास कार्यकर्ता आदि जो खुद कार्रवाई कर सकते हैं तथा यहाँ उठाए गए अनेक मुद्दों पर कार्रवाई करने के लिए दूसरों को प्रेरित कर सकते हैं।

अंत में, ऐसी संगठित जन कार्रवाइयों के द्वारा ही स्वतन्त्रता और समानता सिर्फ़ संविधान के पृष्ठों के शब्द न रह कर सभी भारतीयों के लिए जीवन्त सच्चाई बन सकते हैं।

भरपूर जीवन जीने की आज़ादी

अपनी पूरी जीवन संभावना तक जी पाना तथा समय से पहले मृत्यु का ख़तरा न होना, किसी भी व्यक्ति के लिए अपनी सभी क्षमताओं को पा लेने की पहली बुनियादी शर्त है। लम्बे जीवन का मतलब है अच्छा स्वास्थ्य, बीमारियों से बचाव की क्षमता तथा इस ढंग से जी पाना कि जीवन ज़िंदा रहने के लायक हो सके। अच्छे स्वास्थ्य का संबंध सिर्फ़ डाक्टरों और दवाइयों से नही है। रहने के लिए प्रदूषण मुक्त पर्यावरण, पीने का साफ़ पानी तथा मल सफाई की सुविधा, पर्याप्त पोषण, बीमारियों से सुरक्षा तथा एक अच्छा जीवन स्तर- ये सभी घटक अच्छे स्वास्थ्य तथा कल्याण के लिए ज़रूरी हैं।

जन्म के समय जीवन संभावना को प्रायः किसी देश में स्वास्थ्य स्तर संकेतक के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। अन्य सभी घटकों के असर को देखते हुए यह सिर्फ़ स्वास्थ्य का परिमाणात्मक नाप ही नहीं है बल्कि उस देश के नागरिकों के जीवन की गुणवत्ता का सूचक भी है।

एक भारतीय औरत कितने साल जीती है?

इस मुद्दे पर तरक्की ज़रूर हुई है। 1951 में भारतीय औरत 32 साल से ज़्यादा जीने की आशा नहीं कर सकती थी। पिछले 50 सालों में यह संख्या लगभग दुगनी हो गई है। आज औरतों की औसत जीवन संभावना 63 साल से कुछ अधिक है।

परंतु इस औसत से यह सचाई पता नहीं लगती कि तरक्की बहुत असमान हुई है। पहली बात तो यह कि औरत कितने साल जीती है यह निर्भर करता है इस बात पर कि वह किस राज्य में पैदा हुई है।

अगर वह भाग्यशाली है और केरल में जन्म लेती है तो वह 75 साल तक जीने की आशा कर सकती है। उसकी जीवन संभावनाएँ चीन, मलेशिया, थाईलैण्ड और फ़िलीपीन्स की औरतों से बेहतर नहीं तो उनके बराबर होंगी। यह प्रशंसनीय उपलब्धि है- ख़ासतौर पर यह ध्यान में रखते हुए कि केरल की जनसंख्या 3.2 करोड़ है तथा उसकी प्रति व्यक्ति आय तुलनात्मक रूप से कम है।

केरल अनुभव का स्पष्टीकरण

केरल में तुलनात्मक रुप से निम्न प्रति व्यक्तिआय होने के बावजूद वहाँ के सामाजिक विकास ने भारत तथा विदेशों में अनेक विकास विशेषज्ञों का ध्यान अपनी ओर खींचा है। अधिकांश विशेषज्ञों के अनुसार इस 'चमत्कार' के पीछे वहाँ की ऊँची साक्षरता दर है।

सन् 2001 में केरल में महिला साक्षरता दर 88% था – राष्ट्रीय औसत 54% से कहीं अधिक तथा अनेक विकसित देशों के बराबर। वहाँ लगभग सभी लड़कियाँ स्कूल जाती है। 6-14 साल की 97% लड़कियाँ स्कूल जाती हैं।

इसके अलावा कई अन्य घटक हैं जिन्होंने मिल कर केरल की सफलता में योगदान दिया है।

- बड़े पैमाने पर शिक्षा प्रसार कार्यक्रमों की शुरूआत आज़ादी से पहले ही वहाँ के प्रबुद्ध शासकों ने शुरू कर दी थी जिसे बाद में स्वास्थ्य तथा शिक्षा के लिए वचनबद्ध राज्य सरकार ने और मज़बूत किया।
- ग़रीबों तथा जनता की पक्षधर वामपंथी मज़बूत सरकार तथा सक्रियतावादी राजनीति।
- पुनर्वितरणकारी उपाय अपनाना विशेष रूप से भूमि सुधार।
- बड़े पैमाने पर तथा समानतापूर्ण ढंग से स्वास्थ्य देख रेख और अन्य सेवाओं की उपलब्धता।
- अनेक प्रभावकारी समाज सुधार आन्दोलन जिन्होंने पारम्परिक असमानताएँ दूर करने में योगदान दिया।
- जागरूक जन चर्चाएँ जिनके फलस्वरूप औरतों के लिए अधिक आज़ादी तथा अधिक सक्रिय सार्वजनिक भूमिका को बढ़ावा देने वाला सांस्कृतिक वातावरण बना।
- अपने अधिकारों के प्रति जागरूक तथा सामाजिक न्याय के प्रति सचेत, सर्तक जनता।

(स्रोत : ड्रीज़ और सेन 1995)

मध्यप्रदेश में या बिहार में जन्म लेने वाली औरत की स्थिति बिल्कुल फ़र्क है। जिसकी जीवन संभावना सिर्फ़ 57 साल है, केरल में पैदा होने वाली औरत से 18 साल कम

केरल तथा पंजाब को छोड़कर अन्य राज्यों में अधिकांश भारतीय औरतों का जीवन साठ के दशक में समाप्त हो जाता है।

शहरी और देहाती इलाकों की जीवन संभावना दर में भी बहुत अंतर है। देहातों की तुलना में शहरी औरतें लगभग तीन साल अधिक जीती हैं।
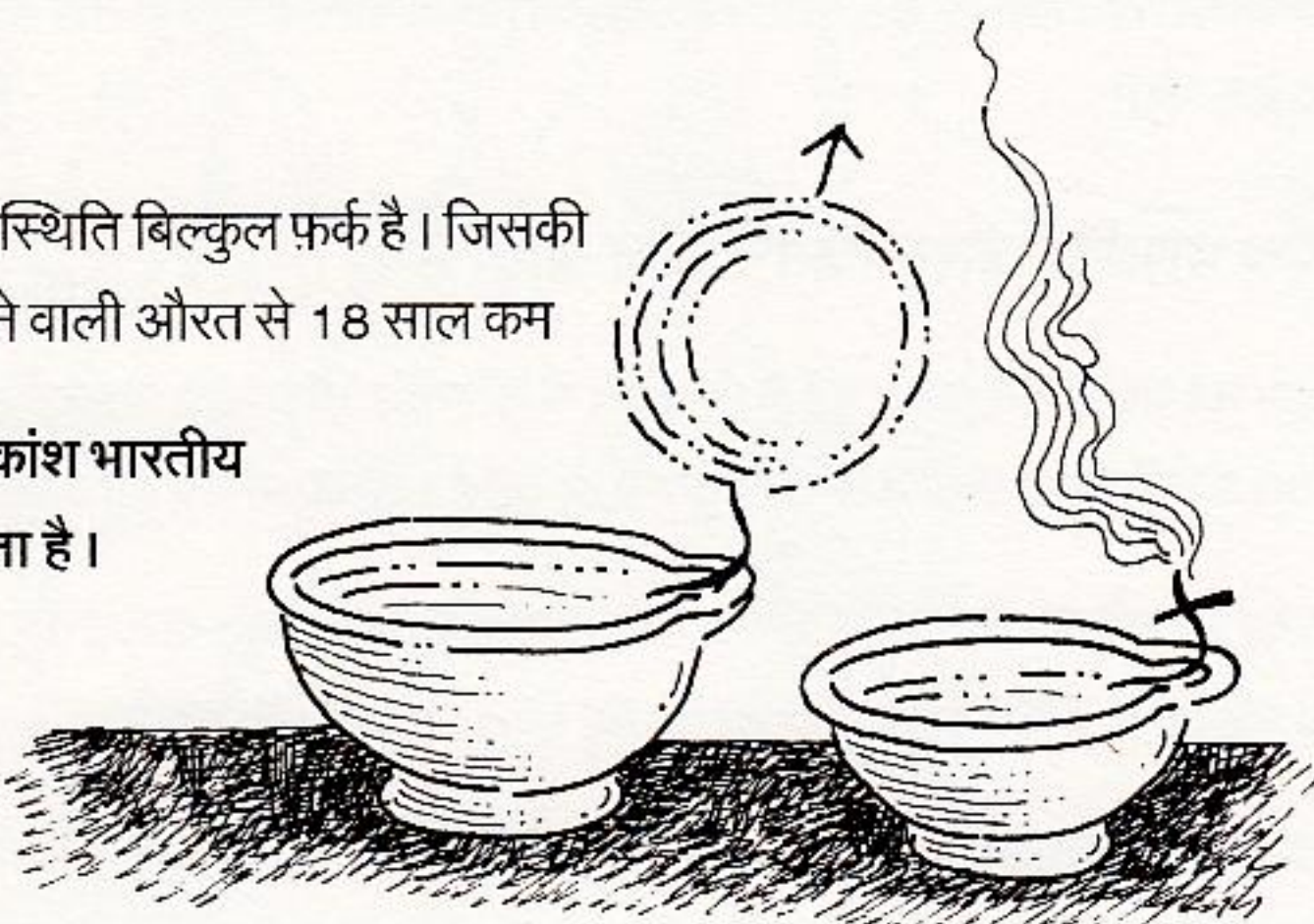
एक ही देश परन्तु अलग-अलग दुनियाँ

- शहरी केरल में जन्म लेने वाला लड़का, मध्यप्रदेश के गाँव में जन्मी लड़की से 17 साल अधिक जीने की आशा कर सकता है।
- इस लड़की की जीवन संभावना उपसहारा अफ्रिका की लड़की से भी दो साल कम है।
- आज उड़ीसा में एक औरत की जीवन संभावना वही है जो केरल में 40 साल पहले थी।

जन्म के समय औरत की जीवन संभावना : 1996-2001
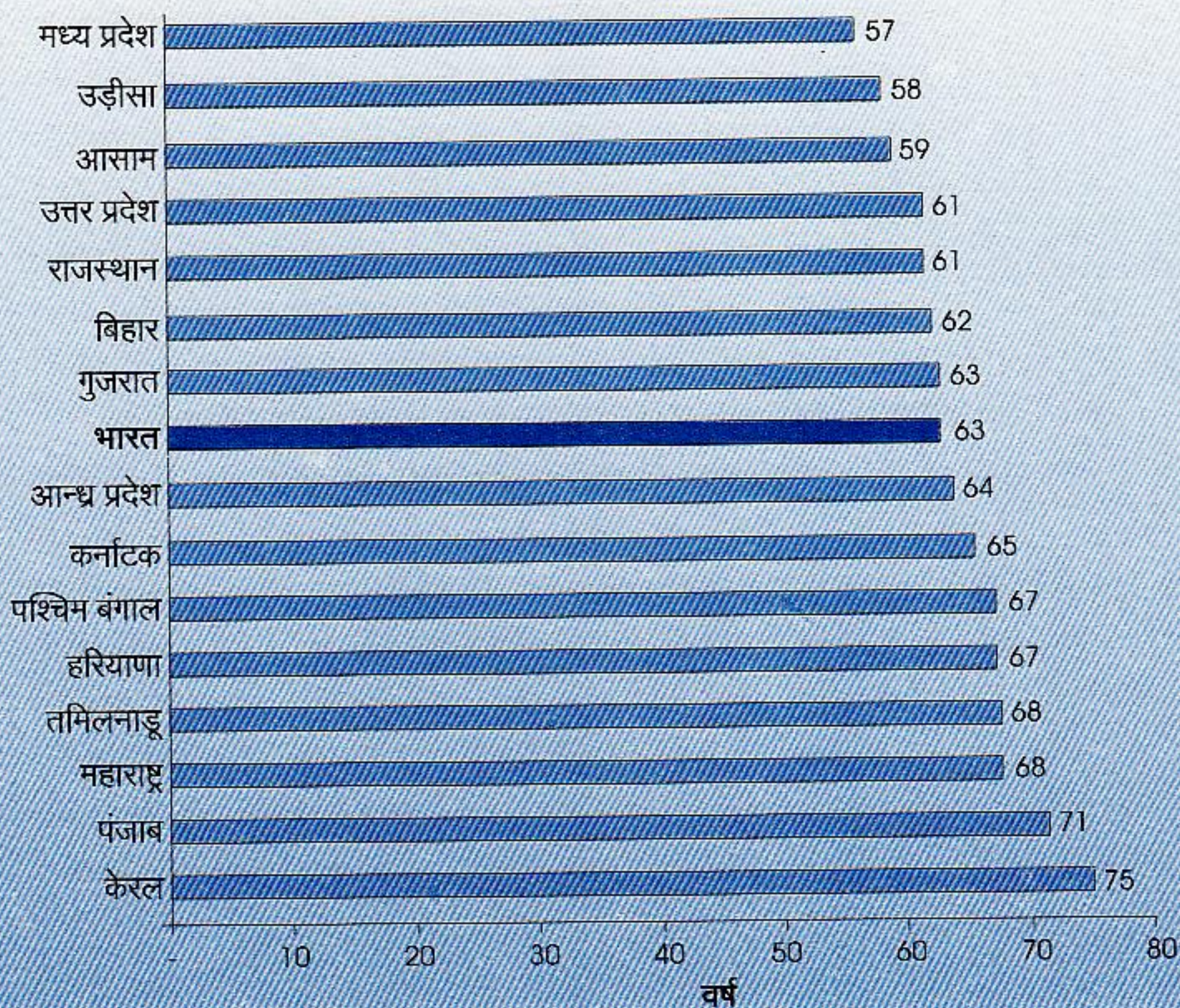
(स्रोत : रजिस्ट्रार जनरल, भारत 1996)

क्या भारत में जीवन संभावना इतनी कम इसलिए है क्योंकि यह एक ग़रीब देश है? यह पूरी तरह सच नहीं है। सामान्य रूप से शायद हम यह आशा करते हैं कि जिन देशों में आमदनी का स्तर ऊँचा है वहाँ जीवन संभावना भी अधिक होगी। इन दोनों के बीच संबंध हमेशा सीधा और स्वतः नहीं होता। जीवन संभावना सिर्फ़ आमदनी के स्तर द्वारा तय नहीं होती। मिसाल के लिए प्रति व्यक्ति आय के हिसाब से तजीकिस्तान, वियतनाम और मंगोलिया भारत से कहीं गरीब देश है लेकिन वहाँ की औरतें भारतीय औरतों से अधिक जीने की आशा कर सकती हैं।

जन्म के समय औरत की जीवन संभावना : 1999

वर्षों में आयु

देश	आयु
श्रीलंका	75
थाईलैण्ड	72.9
चीन	72.5
ताजीकिस्तान	70.4
वियतनाम	70.2
इंडोनेशिया	67.7
मंगोलिया	64.5
भारत	63.3
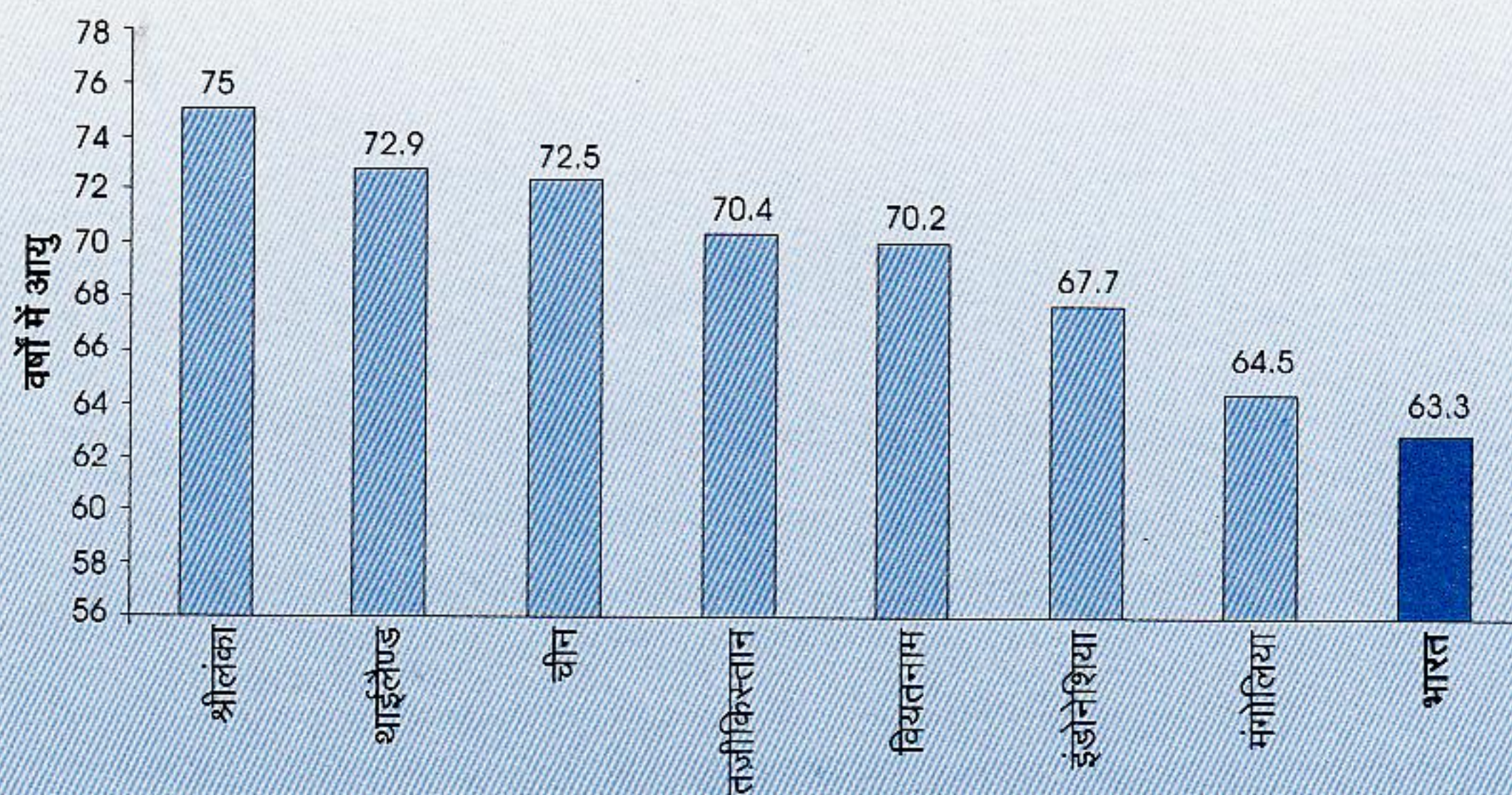
(स्रोत : संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम 2001 मानव विकास रिपोर्ट)

कुछ चुने हुए देशों में प्रति व्यक्ति वास्तविक सकल घरेलू उत्पाद

अमरीकी डॉलर में प्रति व्यक्ति वास्तविक सकल घरेलू उत्पाद

देश	अमरीकी डॉलर
श्रीलंका	3,279
थाईलैण्ड	6,132
चीन	3,617
ताजीकिस्तान	1,031
वियतनाम	1,860
इंडोनेशिया	2,857
मंगोलिया	1,711
भारत	2,248
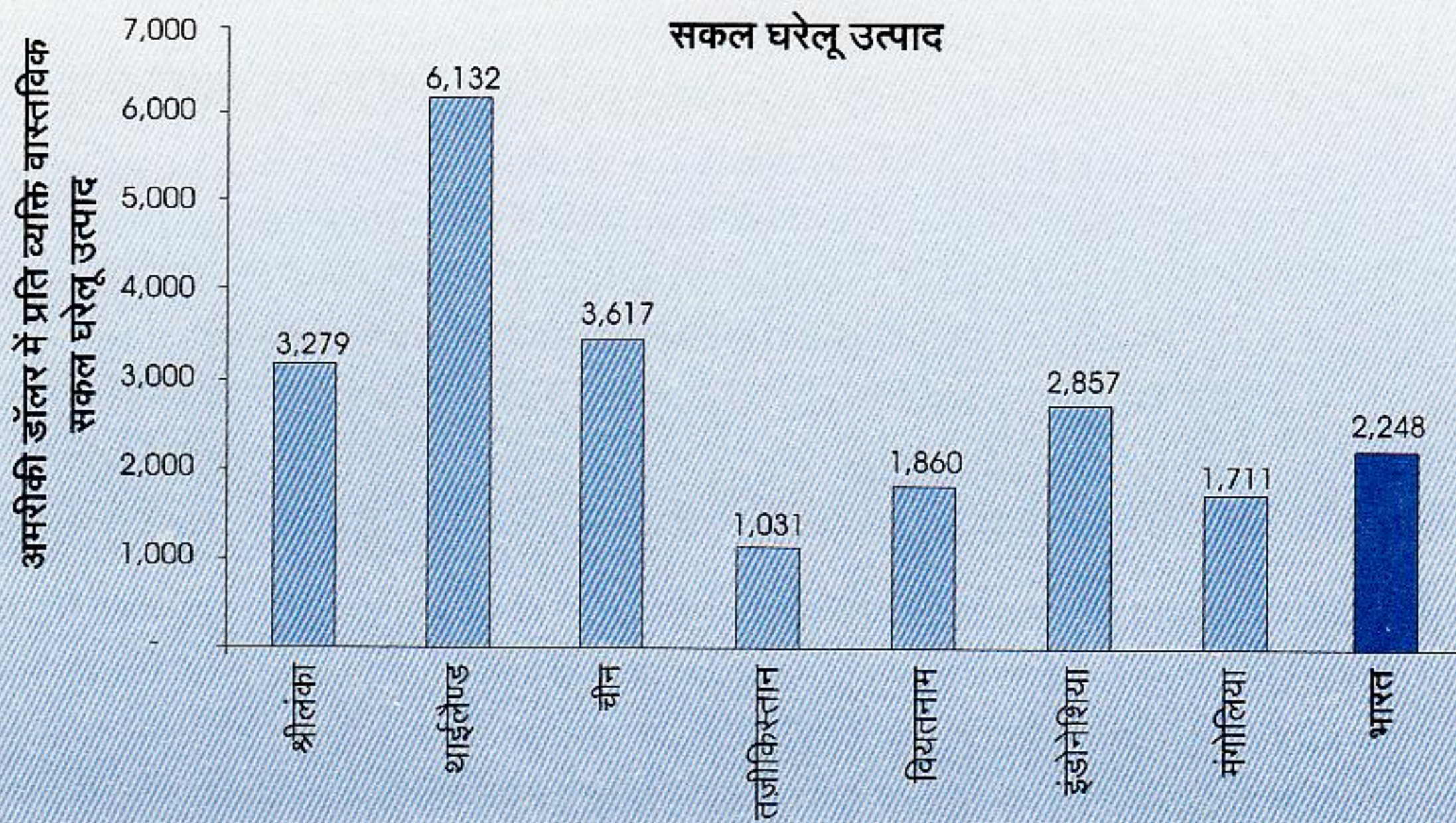
(स्रोत : संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम 2001 मानव विकास रिपोर्ट)

जीवन संभावना : अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति

औरतों की अधिकतम जीवन संभावना : जापान	84.0 साल
औरत की न्यूनतम जीवन संभावना : सिएरा लियोन	39.6 साल

कुछ देश, जहाँ औरतों की जीवन संभावना भारतीय औरतों से अधिक है।

अमरीका	79.7 साल
चीन	72.5
श्रीलंका	75.0
वियतनाम	70.2
इंडोनेशिया	67.7

कुछ देश जहाँ औरतों की जीवन संभावना भारतीय औरतों से कम है।

बंगलादेश	59.0 साल
नेपाल	57.8
हायती	55.4
सेनेगल	54.8
नाइजीरिया	51.7
नाईजर	45.1
इथोपिया	44.9
रवान्डा	40.6

(स्रोत : संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम 2001 मानव विकास रिपोर्ट)

भारत में भी केरल की प्रति व्यक्ति आय हरियाणा से कम है लेकिन हरियाणा की औरतों की जीवन संभावना केरल की औरतों से 8 साल कम है।

राष्ट्रीय स्थिति : कौन अंत में है?

सभी भारतीय राज्यों में मध्यप्रदेश में जन्म के समय औरतों की जीवन संभावना सबसे कम है– 57 वर्ष

उप सहारा अफ्रीका के 44 देशों में से 36 देशों में जन्म के समय औरतों की जीवन संभावना मध्य प्रदेश से भी कम है। इनमें से अधिकांश देश लड़ाइयों तथा एड्स महामारी के कारण तबाह हो चुके हैं। बांगलादेश में औरतों की जीवन संभावना 58.7 वर्ष है तथा नेपाल में 57.6 वर्ष। इन दोनों देशों की औरतें मध्यप्रदेश में जन्मी औरतों से अधिक जीती हैं जबकि ये देश दुनियाँ के सबसे ग़रीब देशों में से हैं।

उप सहारा अफ्रीका के अलावा सारे विश्व में सिर्फ़ 4 देश ऐसे हैं जहाँ की औरतों की जीवन संभावना मध्यप्रदेश की दर से भी कम है।

सूडान	57	हायती	55.4	लाओ पी डी आर	54.4	जीबाओटी	45.3

इन सभी चारों देशों की कुल अनुमानित जनसंख्या है क़रीब 5.3 करोड़

मध्य प्रदेश में इससे लगभग दुगने लोग रहते हैं।

औरतों तथा मर्दों की दीर्घायु

अधिकांश समाजों में जहाँ मर्दों तथा औरतों के साथ समान बर्ताव किया जाता है तथा एक से अधिकार व स्वतन्त्रताएँ मिलती हैं, औरतें, मर्दों से ज़्यादा जीती हैं। हालांकि लड़कियों की तुलना में अधिक लड़के जन्म लेते हैं परंतु वयस्क तथा वृद्ध जनसंख्या में मर्दों की तुलना में अधिक औरतें पाई जाती हैं।

औसतन औरतें मर्दों से पाँच साल अधिक जीने की आशा कर सकतीं हैं। यूरोपिय देशों में यह अंतर 6.4 साल का है। केनेडा, जो मानव विकास तालिका में पहले नम्बर पर है, में औरतें, मर्दों से 6 साल अधिक जीती हैं।

उप सहारा अफ्रीका में भी, जो कि दुनियाँ के सबसे ग़रीब और अभाव ग्रस्त क्षेत्रों में से है, औरतें मर्दों की तुलना में 3 साल अधिक जीती है। भारत में औरतें मर्दों से सिर्फ़ एक साल अधिक जीती हैं।

एक बार फिर भारत के भीतर ही कुछ राज्य अन्य राज्यों से बेहतर है। जीवन संभावना अंतर में भी केरल 4 वर्षों के अंतर से सबसे पहले नम्बर पर है। बिहार, उड़ीसा तथा मध्यप्रदेश में उल्टा ही ढर्रा दिखाई देता है जहाँ औरतों की जीवन संभावना मर्दों से कम है।
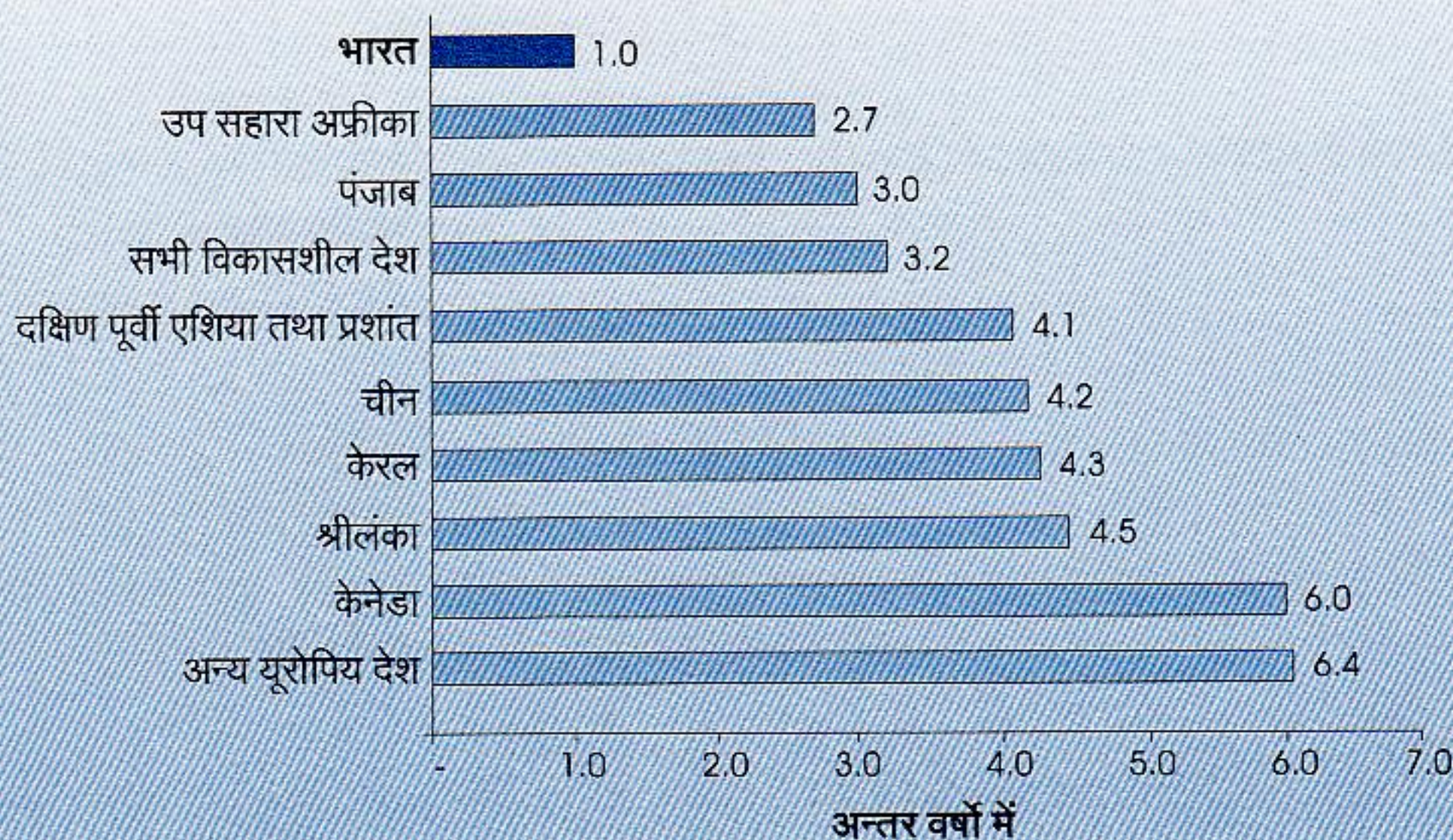
शिशु मृत्यु दर यानि प्रत्येक 1000 जीवित जन्मों पर पहले साल के भीतर मर जाने वाले शिशुओं की संख्या, किसी देश के मानव विकास का स्तर नापने का महत्वपूर्ण ज़रिया है। बाल उत्तर जीविता अथवा बच्चे के जी पाने के निर्णायक घटक हैं ग़रीबी का फैलाव, माता और शिशु का पोषण स्तर, साफ़ पानी तथा मल सफाई सुविधा की उपलब्धता के साथ-साथ समुचित स्वास्थ्य देखरेख तक पहुँच।

हर साल भारत में पैदा होने वाले 2.7 करोड़ बच्चों में से करीब 20 लाख बच्चे अपने पहले जन्म दिन तक भी नहीं जी पाते हैं। प्रत्येक 1000 शिशुओं में से 70 पहले साल के भीतर ही मर जाते हैं।

एक बार फिर वही बात कि नवजात कन्या बचेगी या नहीं यह निर्भर करता है कि वह किस राज्य में जन्म लेती है। उड़ीसा में जीवित जन्म लेने वाले प्रति 1000 शिशुओं में से लगभग 96 अपने जीवन के पहले साल में ही मर जाते हैं। दुसरी ओर केरल में प्रति 1000 शिशुओं मे से सिर्फ15 की मृत्यु पहले साल में होती है।
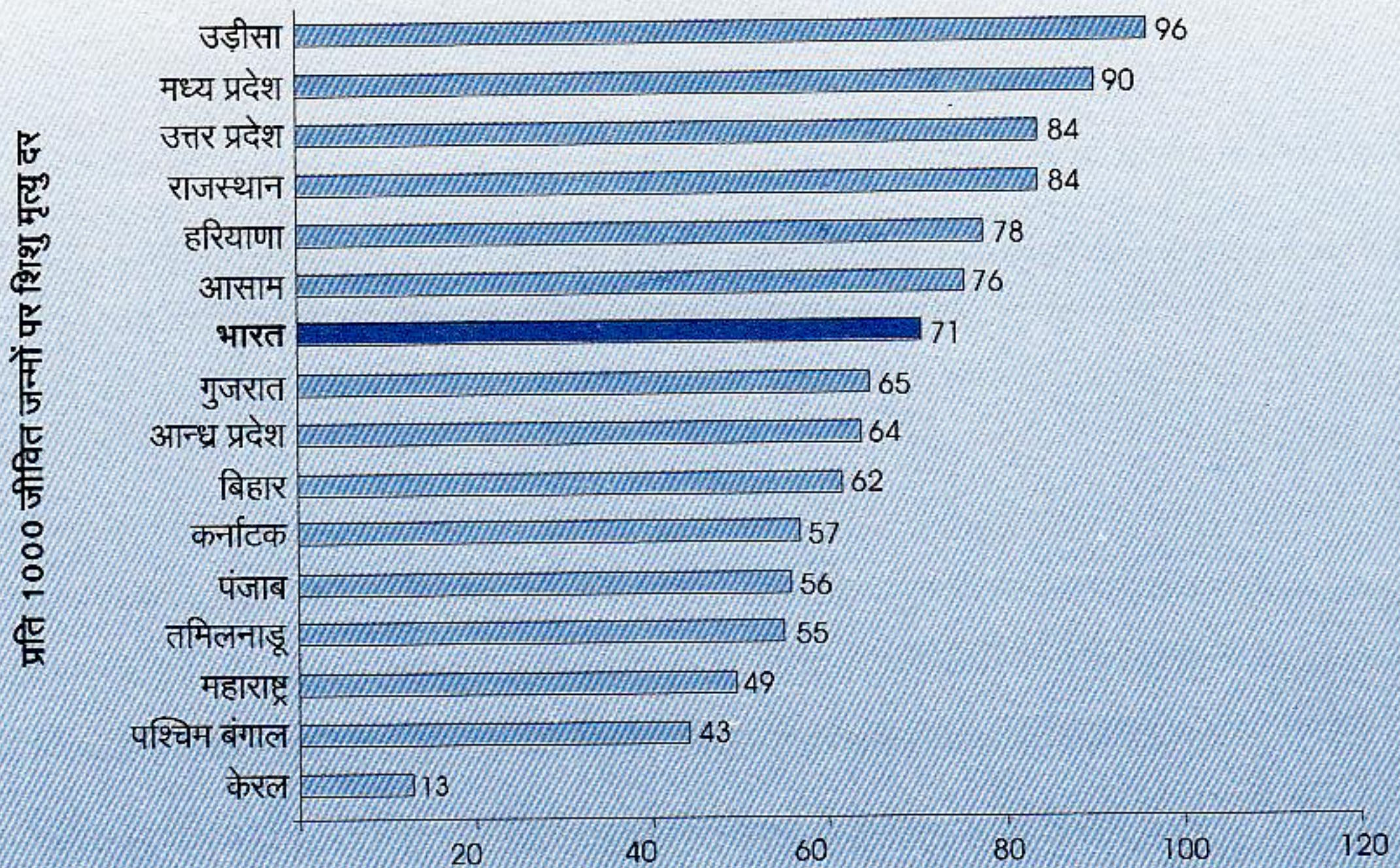
उत्तरजीविता के अन्य संकेतकों की तरह आर्थिक सम्पन्नता और लड़कियों की उत्तर जीविता के बीच कोई ज़ाहिरा संबंध नहीं है। मिसाल के लिए पश्चिम बंगाल में कन्या शिशु के जी पाने की संभावना पंजाब से ज़्यादा है जबकि पंजाब में एक परिवार की औसत आमदनी पश्चिमी बंगाल के परिवार से लगभग दुगनी है। इसी प्रकार से हरियाणा और आसाम की कन्या शिशु मृत्यु दर बराबर है जबकि उनकी प्रति व्यक्ति आय में बहुत फ़र्क है।
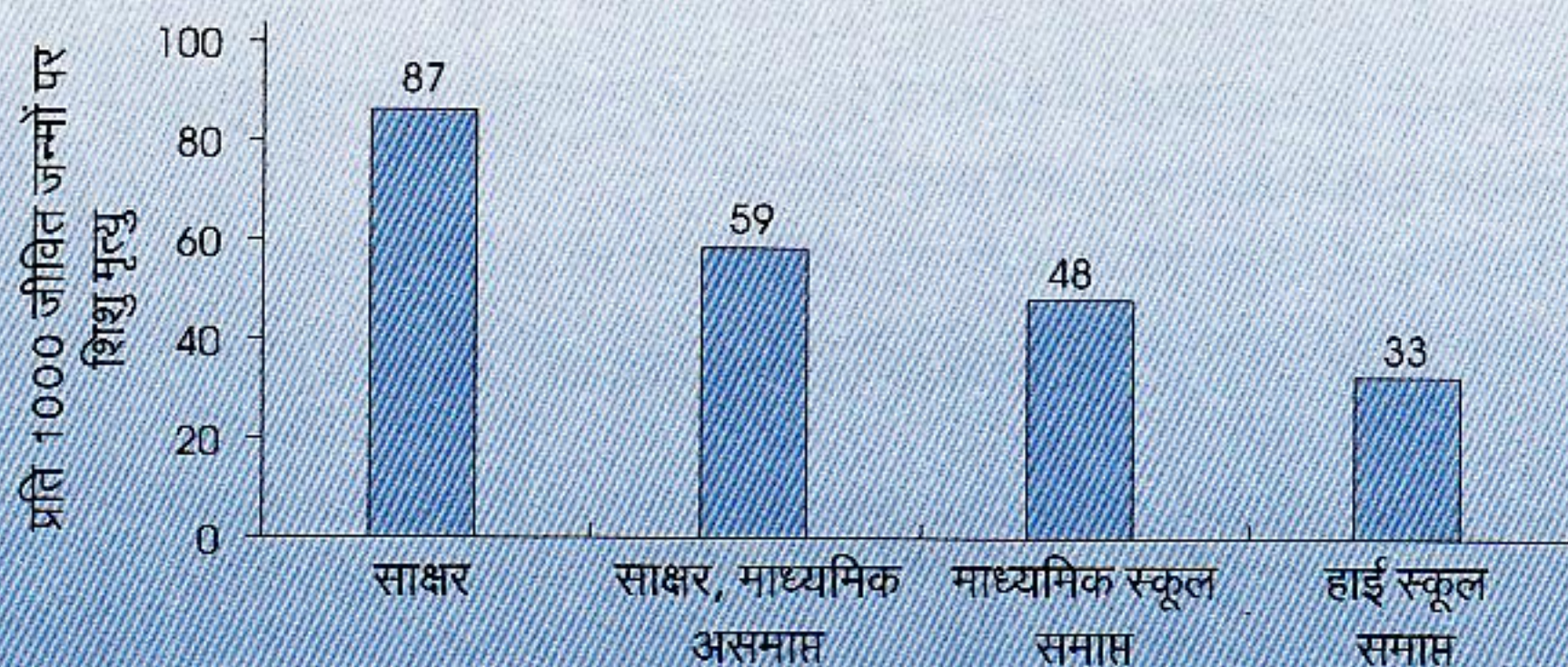
(स्रोतः जनसंख्या विज्ञान का अन्तर्राष्ट्रीय संस्थान 2000, राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण- 2, 1998-99)

सिर्फ़ गरीबी के कारण ही कन्या शिशु नहीं मरती हैं। उसके माता-पिता और परिवार वालों द्वारा किए गए चुनावों का असर उसकी जीवन अवधि पर कहीं अधिक पड़ता है। रीति रिवाज और परम्पराएँ इन चुनावों का स्वरूप तय करती हैं। जब संसाधन कम होते हैं तो ये चुनाव जीवन या मृत्यु का सवाल बन सकते हैं। छोटे पैमाने पर किए गए अध्ययनों से मालूम होता है कि उन परिवारों में कन्या शिशु के मरने की संभावना अधिक होती है जहाँ बड़ा भाई हो। पारिस्थितिक प्रमाण, देखभाल में भेदभाव की तरफ़ इशारा करते हैं।

शिक्षा औरतों को बुनियादी स्वास्थ्य तथा पोषण के बारे में जानकारी और सूचनाएँ पाने का ज़रिया प्रदान करती है जिससे शिशुओं के बचने की संभावनाएँ काफ़ी बढ़ जाती हैं। यदि माता कुछ साल तक स्कूल की पढ़ाई कर चुकी हो तो देखा गया है कि शिशु मृत्यु दर 40% तक घट जाती है।

यह सच है कि शिक्षा और बाल उत्तर जीविता के बीच संबंध उतना सरल नहीं है जितना दिखाई देता है।

सबसे अधिक ख़तरा उन शिशुओं को होता है जिनकी माताएँ ग़रीब होती हैं। ऐसी औरतें जिन्हें न सिर्फ़ शिक्षा नहीं मिली होती है बल्कि वे कई अन्य अभाव झेलती हैं। जिनके कारण उनकी योग्यताएँ और क्षमताएँ भी कम होती हैं।

दूसरी ओर हाई स्कूल तक शिक्षा प्राप्त औरत कुछ महत्वपूर्ण आज़ादी पाने और ले लेने में ज़्यादा सक्षम होती है जैसे घर के बाहर काम करने की आज़ादी, अपने स्वास्थ्य का ख्याल रखने तथा यह फैसला करने की आज़ादी कि वह कब बच्चे को जन्म देगी। उसकी शिक्षा के कारण वह अधिक नियमित और बेहतर वेतन वाली नौकरी पा सकेगी ज़रूरत पड़ने पर अपने तथा अपने बच्चे के लिए चिकित्सा सेवा भी हासिल कर सकेगी। सबसे अधिक संभावना तो इस बात की है कि उसे भी बचपन में प्यार और देखभाल मिली होगी तथा वह अपनी पहचान और अपने मन के भीतर अपनी अहमियत की भावना के साथ बड़ी हुई होगी।

बालिकाएँ क्यों मरती हैं ?

भारत में बाल लिंग अनुपात, यानि 0-6 वर्ष के आयु वर्ग में प्रति 1000 लड़कों पर लड़कियों की संख्या, लगातार गिर रही है। सन् 2001 की जनगणना रिपोर्ट बहुत ही ख़तरनाक आँकड़े दिखलाती है, वे हैं प्रति 1000 लड़कों पर सिर्फ़ 927 लड़कियाँ। स्थिति, विशेष रूप से हरियाणा, पंजाब, हिमाचल प्रदेश, गुजरात और महाराष्ट्र में खराब है। विडम्बना यह है कि ये सभी राज्य आर्थिक प्रगति में सबसे आगे हैं।
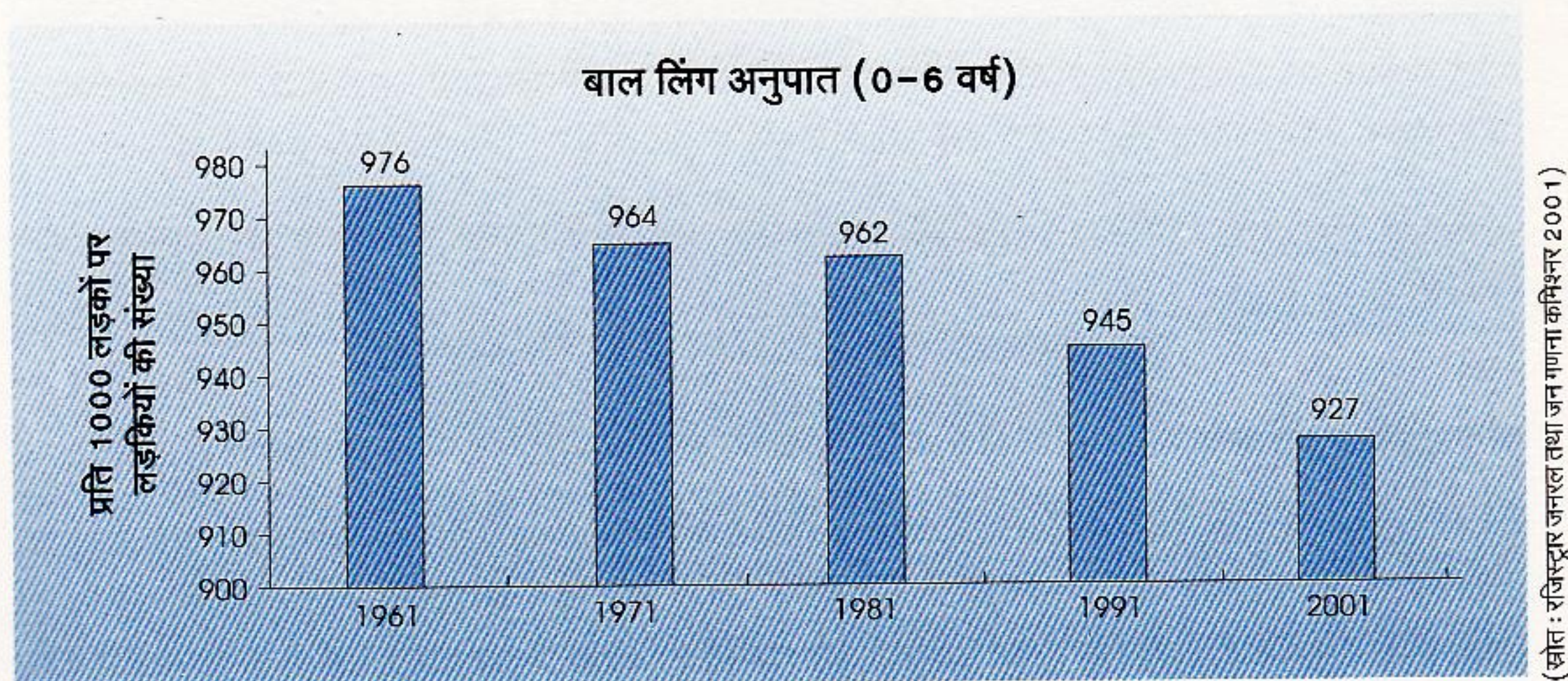
बाल लिंग अनुपात में तेज़ी से गिरावट को स्थानान्तरण या गिनती की ग़लती का परिणाम मान कर सफ़ाई देना मुश्किल है जैसा कि वयस्क जनसंख्या के मामले में कहा जाता है। सचाई यह है कि लड़कियाँ, जनसंख्या में से बड़े असंगत तरीके से ग़ायब होती जा रही हैं।

चिकित्सा तकनीक में तरक्की के चलते अब गर्भ के शिशु का लिंग मालूम करना संभव हो गया है इसलिए अब परिवार वाले तय कर सकते हैं कि लड़की को पैदा होने दिया जाए या नहीं। लिंग का चुनाव (लिंग जाँच करवा कर अनचाहे कन्या भ्रूण को गिरा देना) एक ऐसी चीज़ है जिसके बारे में काफ़ी कुछ पता है लेकिन उस पर बहुत कम चर्चा होती है। लिंग चुनाव के परिणाम स्वरूप होने वाले गर्भपातों के बारे में बहुत कम औपचारिक आँकड़े है, हालांकि छोटे पैमाने पर किए जाने वाले अनेक सर्वेक्षण इसके बारे में काफ़ी चिंताजनक दरों की सूचना देते रहे हैं। भ्रूण लिंग की जाँच करने वाले इन क्लिनिकों के ग्राहकों में शिक्षित और धनी पृष्ठभूमि की औरतें भी शामिल हैं जो अपने परिवार को ''संतुलित'' करने की कोशिश कर रही होती हैं।

इससे भी भयानक बात यह है कि इस बात के अब काफ़ी सुबूत मौजूद हैं कि आज भी भारत के कई हिस्सों में कन्या शिशु हत्या की जाती है।

अनचाही बालिका से कैसे पीछा छुड़ाया जाए

भारत के कई भागों से महिला समूह तथा ग़ैर सरकारी संस्थाओं ने रिपोर्ट दी है कि बालिका शिशु हत्या की आदिमकालीन प्रथा आज भी फल-फूल रही है।

एक बच्ची को मारने के अनेक तरीके हैं। जो तरीके आमतौर पर इस्तेमाल किए जाते हैं वे हैं बच्ची के दूध में कीटाणुनाशक मिलाना, खसखस या धान के कुछ दाने ज़बरदस्ती उसके गले में डाल देना ताकि उसका नाज़ुक गला भीतर से कट जाए, उसके मुँह में काला नमक या यूरिया भर देना। कुछ इलाकों में बच्ची को जहरीले कनेर के फलों का रस पिलाया जाता है या उसका गूदा खिला देते हैं। कुछ अन्य गीले तौलिए या रेत भरी थेली से दम घोंट देते हैं या बड़े पंखे की तेज़ हवा के सामने लिटा देते हैं जिसके कारण वो साँस नहीं ले पातीं और दम घुट जाता है। कई लोग उन्हें भूखा ही मार देते हैं।

सबसे बड़ा धोखा तो तब होता है जब माता के स्तन पर जहर मल दिया जाता है और बच्ची स्तनपान के साथ-साथ जहर पान कर लेती है।

कन्या भ्रूण हत्या और कन्या शिशु हत्या भारत में औरतों के ख़िलाफ़ होने वाले बहुत भारी भेदभाव के सूचक हैं।

भारत में लड़कियों के साथ अन्य तरीकों से भी भेदभाव होता है जैसे उन्हें सिर्फ कुछ महीनों तक माँ का दूध मिलता है, कम प्यार और खेलकूद, कम देखभाल और बीमार पड़ने पर कम इलाज, अच्छे पकवानों में कम हिस्सा, माता-पिता का कम ध्यान। परिणामस्वरूप लड़कियाँ, लड़कों की तुलना में बीमारी और संक्रमण की अधिक शिकार होती हैं जिससे उनकी सेहत कमज़ोर रहती है और जीवन अवधि कम हो जाती है। **लड़कियों के पालन-पोषण और देखभाल में जीवन भर उनके साथ होने वाला भेदभाव ही लड़कियों का असली हत्यारा है- यह दबा-छिपा और कम नाटकीय है लेकिन कन्या भ्रूण हत्या तथा कन्या शिशु हत्या की तरह ही निश्चित रूप से घातक है।**

स्वस्थ जीवन का अधिकार

स्वास्थ्य के बारे में भरोसेमंद तथा लिंग आधारित आँकड़े मिलना मुश्किल है। यह समस्या औरतों के स्वास्थ्य के बारे में तो और भी गंभीर है। अनेक कारणों से सरकारी स्वास्थ्य रिकॉर्ड शायद ही कभी व्यापक या पूरी तरह सही होते हैं। अनेक ''औरतों के मामले'' स्वयं औरतों द्वारा या स्वास्थ्य देखरेख कर्मचारियों द्वारा स्वास्थ्य समस्याएँ नहीं समझे जाते। परिणामस्वरूप अधिकांश बीमारियों की तरफ़ ध्यान ही नहीं दिया जाता और न उनका इलाज होता है। देहाती इलाकों में अधिकांश डाक्टर मर्द हैं, यह एक और बड़ी रूकावट है। औरतें, मर्द डाक्टर को अपने लक्षण बताने या उसके द्वारा अपनी शारीरिक जाँच करवाने से झिझकती है। कुछ अन्य उदाहरणों में संभव है कि स्वास्थ्य केंद्र काफ़ी दूर हो जहाँ पहुँचना औरतों के लिए मुश्किल हो। कभी-कभी औरत की जाति तथा वर्ग के कारण उसके और स्वास्थ्य केंद्र के बीच जो ''सामाजिक फ़ासला'' पैदा हो जाता है वह भौतिक दूरी से भी बड़ा होता है। सांस्कृतिक रूप से भी औरतों को बचपन से ही चुपचाप बर्दाश्त करने की सीख दी जाती है। प्रायः औरतें डाक्टर के पास या स्वास्थ्य केंद्र जाने के बारे में तभी सोचती हैं जब बात बर्दाश्त से बाहर हो जाती है।

लाखों भारतीय औरतों को घर से बाहर जाकर आवश्यक स्वास्थ्य सेवाएँ खोजने और पाने की इजाज़त नहीं होती। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण-2, 1998-99 के अनुसार भारत में सिर्फ़ 52% औरतों से उनके ही स्वास्थ्य देखरेख संबंधी फ़ैसलों में राय ली जाती है। मध्य प्रदेश में यह संख्या सिर्फ़ 37% है।
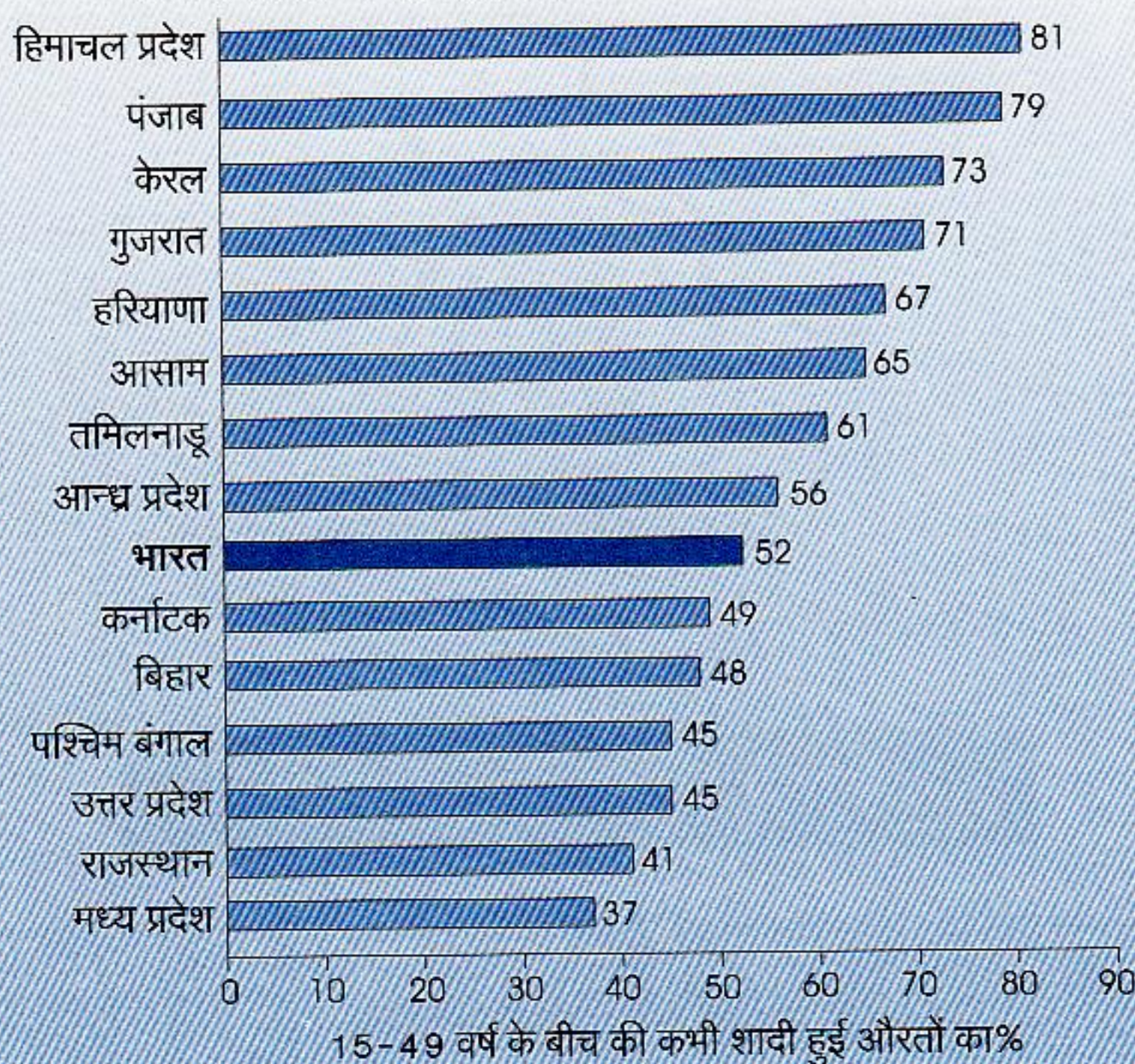
(स्रोतः जनसंख्या विज्ञान का अन्तर्राष्ट्रीय संस्थान 2000, राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण- 2, 1998-99)

भारत के सिर्फ़ 50% गाँवों में ही किसी न किसी प्रकार का सरकारी स्वास्थ्य केंद्र है। देहाती इलाकों के सिर्फ़ 10% से कम लोग ऐसी जगहों पर रहते हैं जहाँ उन्हें सरकारी या निजी किसी प्रकार का अस्पताल उपलब्ध है।

अन्य अधिकांश लोगों के लिए समुदाय की औरतें ही स्वास्थ्य देखरेख सेवाएँ देती हैं। उनमें से अनेक जड़ी बूटियों तथा चिकित्सा की वैकल्पिक विधि की अच्छी जानकार होती हैं। कुछ अन्य औरतें अपनी माँ और नानी से मिली पारम्परिक जानकारी काम में लाती हैं।

हालांकि मर्दों की तुलना में काफ़ी कम औरतें डाक्टर हैं परन्तु पेशेवर स्वास्थ्य देखरेख करने वालों में बहुत बड़ा हिस्सा औरतों का है। सरकारी तथा गैर सरकारी स्वास्थ्य कार्यक्रमों की जमीन से जुड़ी अधिकांश कार्यकर्ता औरतें हैं। लगभग सभी नर्सें और दाइयाँ औरतें हैं।

अनेक गैर सरकारी संस्थाओं तथा महिला समूहों के तजुर्बों से मालूम होता है कि औरतों की स्वास्थ्य जानकारी व हुनरों को यदि थोड़ी सी मदद दे दी जाए तो उससे समुदाय की सेहत की स्थिति में बहुत बड़ा फ़र्क आता है। मिसाल के लिए पारम्परिक दाइयों को सुरक्षित प्रसव किट, जिसमें एक साबुन तथा नाल काटने और बाँधने के लिए कीटाणुनाशक ब्लेड और धागा होता है, देने से बाल उत्तरजीविता दर में बहुत फ़र्क आया।

खून की कमी या ऐनीमिया औरतों की उन थोड़ी सी बीमारियों में से है जिनके बारे में हमारे पास आँकड़े मौजूद हैं। हालांकि इससे कमज़ोरी हो जाती है (कभी-कभी मौत भी) लेकिन फिर भी थकान, ताकत की कमी, भूख न लगना, साँस फूलना जैसे इसके लक्षणों को ''सुस्ती' या ''वहम'' कह के नज़र अंदाज कर दिया जाता है तथा औरतों के लिए इसका ख़तरा बढ़ रहा है, वे सम्पूर्ण मानव के रूप में अपनी शक्ति भर योग्यताओं का इस्तेमाल नहीं कर पाती। हाल के एक सर्वेक्षण से मालूम हुआ कि भारत में 50% शादीशुदा औरतें खून की कमी की शिकार हैं।
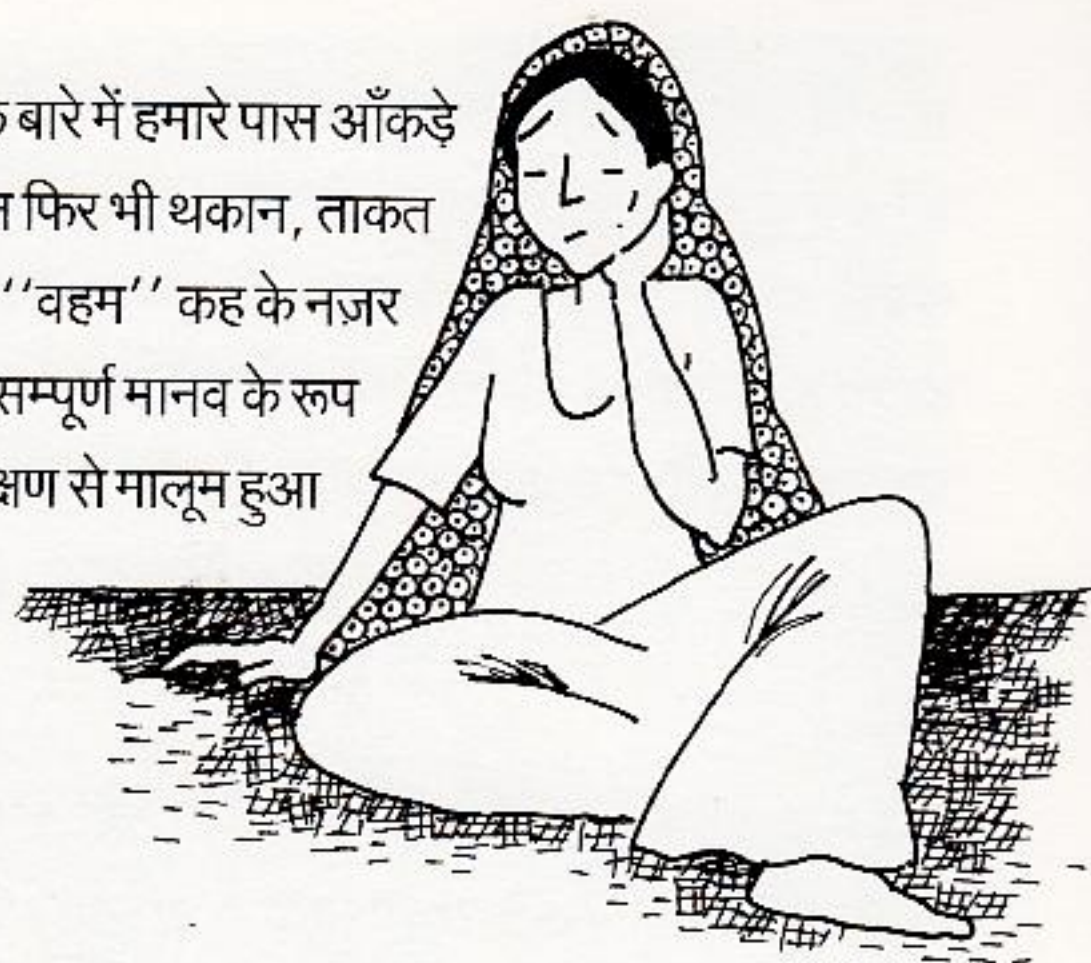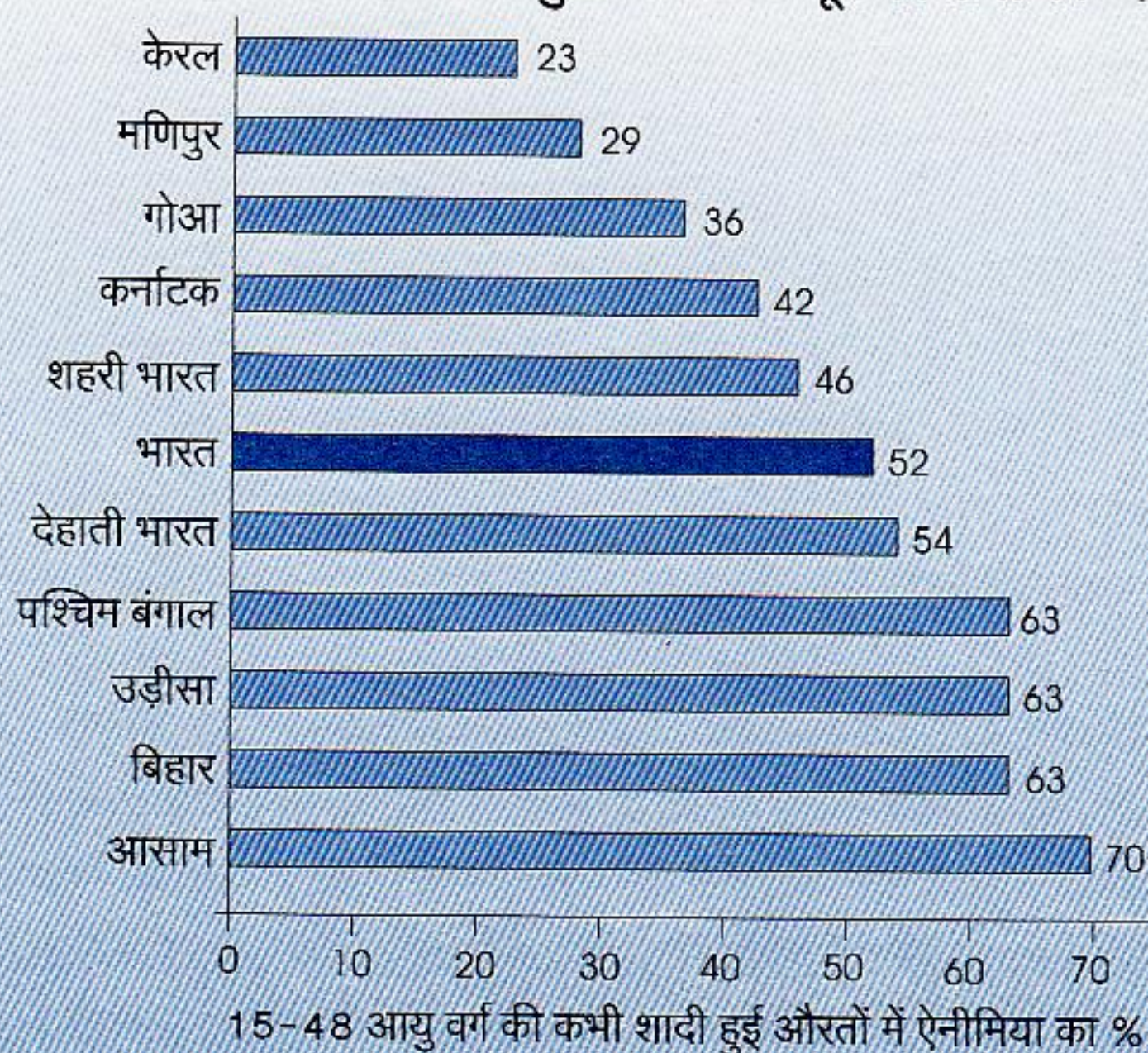
(स्रोतः जनसंख्या विज्ञान का अन्तर्राष्ट्रीय संस्थान 2000, राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण- 2, 1998-99)

देखभाल की कमी, अपर्याप्त पोषण ख़ासतौर पर बीमारी और गर्भावस्था के दौरान जब इनकी अधिक आवश्यकता होती है, महिला रोगों का इलाज न होना, कम उम्र में तथा बार-बार प्रसव आदि वे सभी कारण हैं जो खून की कमी की इतनी व्यापकता के लिए ज़िम्मेदार हैं।

ख़ून की कमी की शिकार औरतों को संक्रमण तथा बीमारी होने का ख़तरा अधिक होता है और इसलिए प्रसव के समय उन्हें सबसे अधिक ख़तरा होता है। गर्भावस्था के समय देखभाल और अतिरिक्त भोजन की ज़रूरतें पूरी न होने तथा इस दौरान उनके शरीर पर भ्रूण के विकास का बोझ होने की वजह से प्रसव के समय उन्हें ख़तरा हो सकता है। साथ ही ऐसी औरतों के शिशु का, जन्म के समय कम वज़न होने की संभावना भी बढ़ जाती है और इस प्रकार कुपोषण और बीमारी का एक और चक्र शुरू हो जाता है।

जिन उपायों से सुरक्षित गर्भावस्था सुनिश्चित हो सकती है– देखभाल तथा आराम, काम का कम बोझ और पर्याप्त पोषण, बहुत सी भारतीय औरतों की पहुँच के बाहर हैं।

अधिकांश भारतीय औरतों को मातृत्व छुट्टी नसीब नहीं है। जो औरतें दिहाड़ी की मजदूरी पर निर्भर हैं वे आखिरी समय तक खेतों में काम करती रहती है और प्रसव के बाद जितनी जल्दी हो सके काम पर लौट जाती हैं। कई रीति रिवाज और परम्पराएँ गर्भवती औरत को वो सब खाने से रोकती हैं जिनकी उसे ज़रूरत है। देश के कुछ हिस्सों में माना जाता है कि पपीता, अनन्नास, अंडे और सहजन की फली खाने से गर्भपात हो जाता है इसलिए गर्भवती औरतों को उन्हें खाने की मनाही होती है। विडम्बना यह है कि ये सभी खाद्य लौह तत्व और विटामिन 'ए' से भरपूर होते हैं जो सुरक्षित गर्भावस्था और स्वस्थ शिशु के ज़रूरी पोषण हैं। कई इलाकों में गर्भवती औरतों को दूध, घी जैसी गरिष्ठ चीज़े नहीं दी जाती है क्योंकि उनके खयाल से इनसे शिशु मोटा हो जाएगा और प्रसव में मुश्किल होगी।

मातृत्व : कितना सुरक्षित ?

मातृत्व मृत्यु दर की परिभाषा है कि प्रति 100,000 जीवित जन्मों पर प्रसव के समय से लेकर आने वाले 40 दिनों के भीतर गर्भावस्था या प्रसव से जुड़े कारणों की वजह से माता की मृत्यु होना। गर्भावस्था के दौरान औरत को अपने परिवार वालों से कैसी देखभाल और पोषण मिलता है वह समस्या का सिर्फ़ एक पहलू है। एक औरत के मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य की सामान्य स्थिति, उसकी उम्र, उसकी स्वयं अपने शरीर के बारे में जानकारी तथा उस जानकारी को इस्तेमाल करने की योग्यता, उसका आर्थिक दर्जा, बुनियादी सेवाओं तक उसकी पहुँच तथा प्रसव के समय पेशेवर मदद- ये सभी चीज़े मिल कर तय करती है तथा यह भी कि वह औरत प्रसव के बाद बचेगी या नहीं।

मातृत्व मृत्यु : अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति

सैम्पल रजिस्ट्रेशन व्यवस्था के अनुसार 1998 में भारत में मातृत्व मृत्यु दर प्रति 100,000 जीवित जन्मों पर 407 थी।

भारत में हर साल 100,000 से 120,000 औरतें गर्भावस्था से जुड़े कारणों की वजह से मर जाती हैं।

1998-99 के लिए राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण-2 का अनुमान है कि सर्वेक्षण से पहले के दो सालों में प्रति 100,000 जीवित जन्मों पर यह दर देहाती क्षेत्रों में 619 तथा शहरी क्षेत्रों में 267 थी।

भारत में मातृत्व मृत्यु दर विकसित देशों की तुलना में 100 गुना अधिक है तथा श्रीलंका, वियतनाम व क्यूबा जैसे विकासशील देशों से भी ज़्यादा है।

मातृत्व मृत्यु दर

चीन	55
श्रीलंका	60
वियतनाम	160
भारत	407

भारत के भीतर मातृत्व मृत्यु दर सबसे अधिक उत्तर प्रदेश में, प्रति 100,000 जीवित जन्मों पर 707 है। दुनियाँ में सिर्फ़ 5 देशों में, जो सभी उप सहारा अफ्रीका में हैं, उत्तर प्रदेश से अधिक मातृत्व मृत्यु दर है।

मातृत्व मृत्यु दर

चैड	830
एरीटेरिया	1000
मोज़ाम्बिक	1,100
केंद्रीय अफ्रीकी गणराज्य	1,100

(स्रोत : संयुक्त राष्ट्र संघ विकास कार्यक्रम 2001)

मातृत्व मृत्यु संबंधी आँकड़े दिल दहलाने वाले हैं। 300 के करीब भारतीय औरतें रोज़ाना प्रसव के दौरान या गर्भावस्था संबंधी कारणों से मर जाती हैं। इस हिसाब से लगभग हर पाँच मिनट पर एक औरत की मृत्यु होती है इसका मतलब है कि अभी जब आप ये पृष्ठ पढ़ रहे हैं देश के किसी कोने में एक औरत प्रसव के समय मर रही है। इन मौतों में से 40% से अधिक उत्तर प्रदेश में होती हैं जहाँ हर मिनट में एक मातृत्व मृत्यु होती है।

संस्थाओं में देखरेख के भीतर होने वाले प्रसव, जो शायद सबसे अच्छा विकल्प हैं, के रिकार्ड बताते हैं कि गर्भावस्था और प्रसव के समय ख़ून का अनियंत्रित बहाव मातृत्व मृत्यु का सबसे बड़ा कारण है और दूसरा कारण है ख़ून की कमी।

ग्रामीण भारत में मातृत्व मृत्यु के कारण (%)

कारण	वर्ष 1997
प्रसव पीड़ा से लेकर छः सप्ताह के भीतर पैदा होने वाली किसी जटिलता के कारण	28
गर्भावस्था जनित ख़ून की कमी	18
बच्चे की गलत स्थिति	13
प्रसूति संक्रमण	11
गर्भपात	10
वर्गीकरण नहीं	21
कुल	**100**

(स्रोत : रजिस्ट्रार जनरल ऑफ इंडिया 1997)

सामने दिखाई देने वालों इन कारणों के पीछे बहुत से न दिखाई देने वाले कारणों की एक लम्बी श्रृंखला है। अपर्याप्त पोषण, अधिक काम, प्रजनन शक्ति पर नियंत्रण का अभाव, तथा साफ़ पानी, मल स्वच्छता व स्वास्थ्य देखरेख जैसी बुनियादी सुविधाओं की कमी।
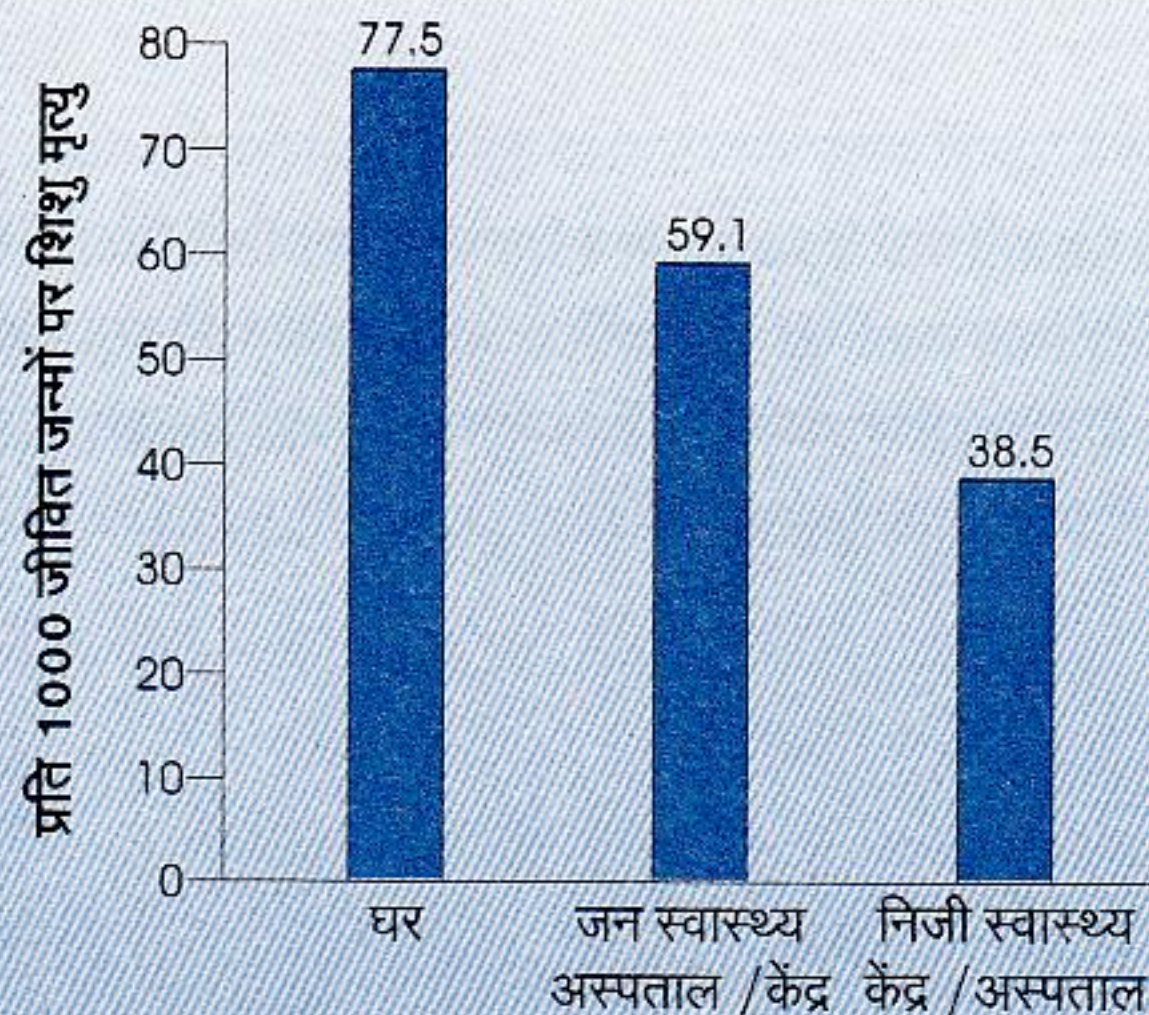
(स्रोत: इन्टरनेशनल इंस्टीट्यूट फॉर पॉप्यूलेशन साइन्सेज 1995, राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण 1, 1992–93)

देश के कुल प्रसवों में से सिर्फ़ 42% किसी स्वास्थ्य कर्मी की देखरेख में होते हैं। ज़्यादातर औरतें परिवार की ही किसी औरत की मदद से बच्चे पैदा करती हैं। अगर कोई आपात स्थिति पैदा हो जाए तो मददगार औरत के पास माता की जान बचाने के लिए न तो हुनर होता है ना ही संसाधन। इन औरतों की जानकारी और हुनर बढ़ाने में ज़रा सी भी मदद की जाए तो उससे बहुत अधिक फ़ायदा होगा। कुछ सामान्य से क़दम उठाने से देश में मातृत्व मृत्युदर आधी हो सकती है जैसे खतरे के लक्षणों को पहचानने की क्षमता, सवारी की उपलब्धता तथा बारह महीने इस्तेमाल की जा सकने वाली सड़कें ताकि प्रसव पीड़ा भोग रही महिला को तुरंत ऐसे अस्पताल पहुँचाया जा सके जहाँ वे उसकी जान बचा सकते हैं।

संस्थागत प्रसव : क्या कोई और रास्ता है ?

आज भी करीब दो तिहाई प्रसव घर पर ही होते हैं। शहरी क्षेत्रों में यह अनुपात 35% से कम है तो देहाती इलाकों में 75% से अधिक है। बिहार तथा उत्तर प्रदेश जैसे राज्यों में सिर्फ़ 15% बच्चे स्वास्थ्य केंद्र या अस्पताल में पैदा होते हैं।

आमतौर यह तर्क दिया जाता है कि घर पर प्रसव होने में तकनीकी रूप से कोई खराबी नहीं है क्योंकि प्रसव एक प्राकृतिक प्रक्रिया है। हो सकता है कि इस रिपोर्ट को पढ़ने वाले बहुत से लोगों का जन्म घर पर ही हुआ हो और वे अच्छे भले हैं।

ऐसे सरलीकृत कारण सचाई को सिर्फ ऊपरी सतह पर देखते हैं परन्तु वास्तविकता यह है कि एक शहरी मध्य वर्गीय औरत की परिस्थितियाँ और संभावनाएँ बिहार या उत्तर प्रदेश के किसी गाँव की गरीब औरत से बहुत भिन्न हैं।

शहरी औरत का पोषण स्तर शायद अच्छा होगा। वह अपनी जाँच के लिए नियमित रूप से डाक्टर के पास जाती रही होगी तथा उसे टेटनस विरोधी इंजैक्शन लग चुके होंगे। उसकी जचगी साफ़ कमरे में होगी जहाँ एक प्रशिक्षित नर्स मौजूद होगी तथा आपात स्थिति होने पर तुरंत डाक्टर को भी बुलाया जा सकता होगा। उसके लिए घर पर प्रसव कराना उसकी इच्छा का सवाल है।

जबकि दूसरी ओर देहाती औरत में संभावना है कि खून की कमी होगी तथा उसका वज़न भी कम होगा न वह कभी डाक्टर के पास गई होगी न ही उसे टेटनस का टीका लगा होगा। उसके अपने गाँव में न तो डाक्टर होगा न ही अस्पताल। उसके लिए घर में प्रसव कराना जागरूक चुनाव के स्थान पर चुनावों की कमी का परिणाम है।
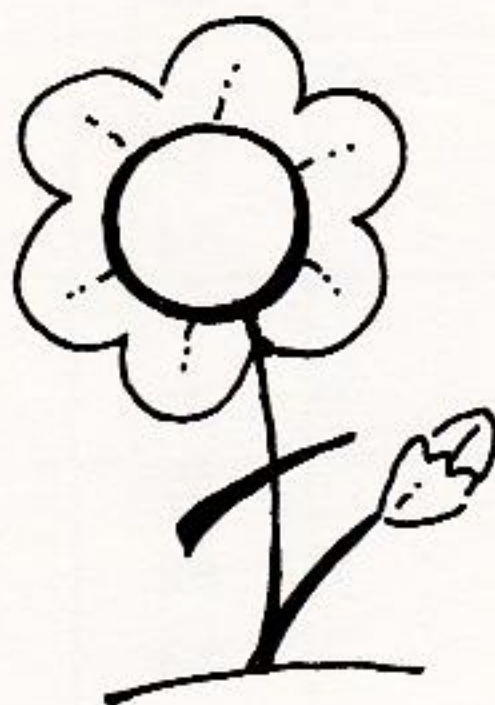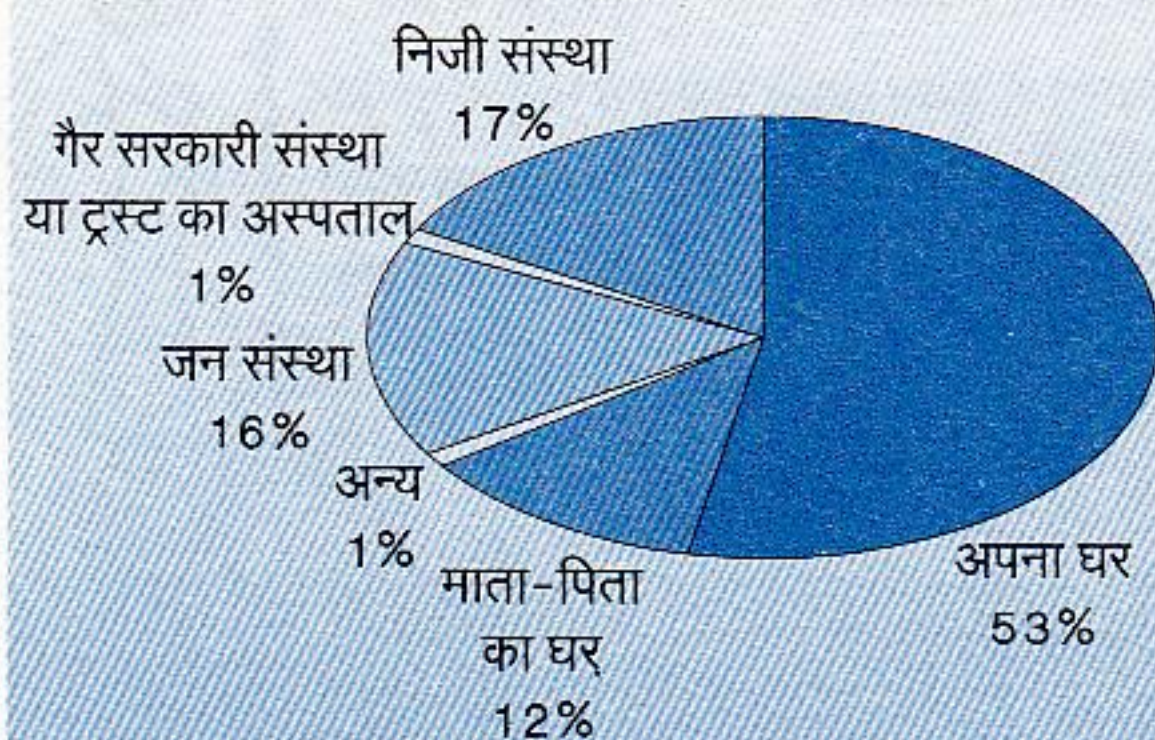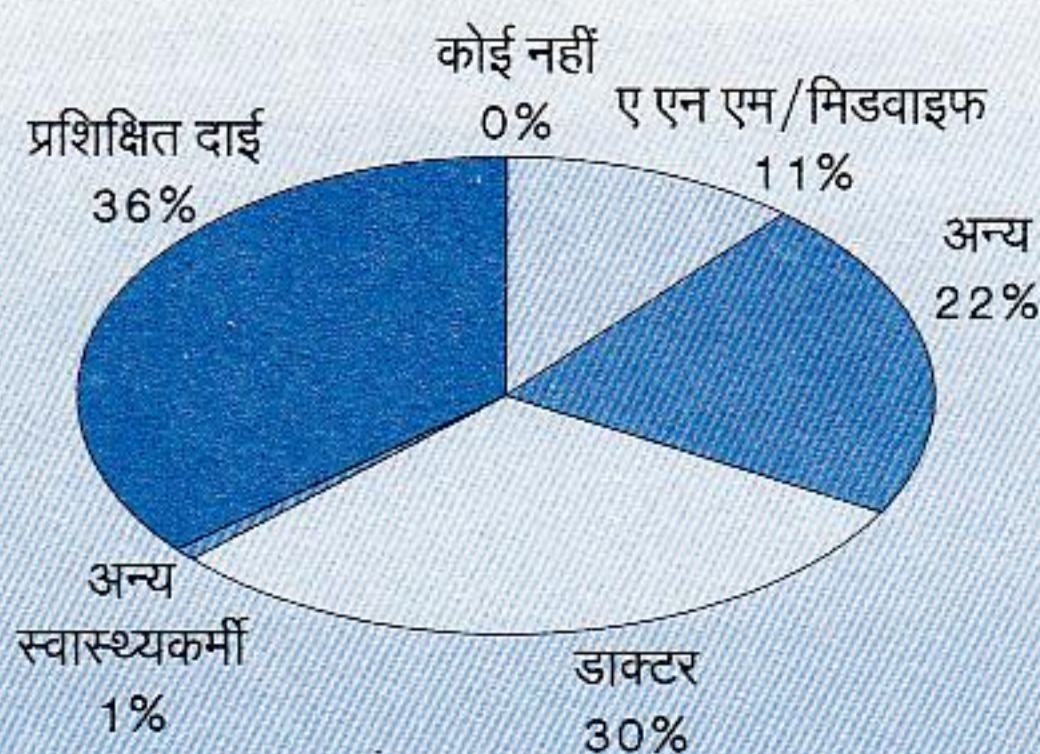
(स्रोतः जनसंख्या विज्ञान का अन्तर्राष्ट्रीय संस्थान 2000, राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण- 2, 1998-99)

जब प्रसव जन स्वास्थ्य संस्थाओं या अस्पतालों में होते भी हैं जहाँ किसी नर्स या डाक्टर की देखरेख उपलब्ध होती है तब भी प्रसव ख़तरों से खाली नहीं होते। हाल के एक अध्ययन से मालूम होता है कि औसत प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र में छोटी मोटी आपात स्थितियों से निपटने की व्यवस्था भी नहीं होती तथा वे प्रायः सफाई और मल स्वच्छता के सबसे निचले स्तर से भी नीचे होते हैं।

प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों में उपलब्ध सहायक सुविधाएँ

	गुजरात	महाराष्ट्र	तमिलनाडू	उत्तर प्रदेश
सर्वेक्षण में शामिल कुल केंद्रों की संख्या	54	60	38	62
भौतिक सुविधाएँ				
पर्याप्त पानी के साथ संडास की सुविधा	37	52	34	29
ऑपरेशन थियेटर				
साफ़ कमरा	50	88	58	40
ऑपरेशन की मेज़ तथा उस पर साफ़ रबड़ की चादर	43	77	32	45
हाथ धोने के लिए बेसिन	39	15	84	76
पर्याप्त रोशनी का स्रोत	48	88	50	77
एकान्त				
सुनाई देना	61	68	11	42
दिखाई देना	54	60	13	40
दवाइयाँ				
ऐंटीबायोटिक	70	95	95	90
दर्द निवारक	67	95	92	89
नींद लाने की	63	82	66	74
खून का बहाव रोकने की	33	38	40	76

(स्रोत : पचौरी में, खान व साथी 1999)

सफ़ाई, औषधियों तथा एकान्त की कमी के साथ-साथ प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र का वातावरण प्रसव पीड़ा सह रही औरत के लिए मददगार नहीं होता। अगर उसे तसल्ली देने के लिए कोई संबंधी साथ रहना चाहे तो उसके लिए कोई व्यवस्था नहीं होती। वहाँ के डाक्टर तथा नर्से शहरी लोग होते हैं जो उस औरत की बोली नहीं समझते। वह औरत उनके लिए एक व्यक्ति न होकर सिर्फ़ एक मामला होती है। **ऐसे हालात में यदि पास में प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र हो तब भी औरतों के पास घर में जचगी कराने के अलावा कोई चारा नहीं होता है।** सबसे बड़ी बात तो यह है कि पिछले छः सालों में इन हालात में नहीं के बराबर बदलाव हुआ है।

स्वास्थ्य कर्मियों की देखरेख में होने वाले प्रसव (%)

	1992–93	1998–99	बदलाव
भारत	**34**	**42**	**8**
आन्ध्र प्रदेश	49	65	16
हिमाचल प्रदेश	26	40	15
पंजाब	48	63	14
राजस्थान	22	36	14
दिल्ली	53	66	13
तमिलनाडू	71	84	13
उड़ीसा	21	33	12
हरियाणा	30	42	12
जम्मू और कश्मीर	31	42	11
पश्चिम बंगाल	33	44	11
गुजरात	43	54	11
कर्नाटक	51	59	8
महाराष्ट्र	53	59	6
उत्तर प्रदेश	17	22	5
केरल	90	94	4
बिहार	19	23	4
गोआ	88	91	3
मध्य प्रदेश	30	30	0

(स्रोतः इन्टरनैशनल इंस्टीट्यूट फॉर पॉप्यूलेशन साइन्सेज 1995 तथा 2000, राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण 1 तथा 2 1992-93 तथा 1998-99)

मातृत्व : क्या कोई और रास्ता है ?

बहुत कम संख्या में ऐसी भारतीय औरते हैं जिन्हें यह चुनने का मौका मिलता है कि वे माँ बनें या नहीं या कब बनें। औरतों, विशेष रूप से देहातों में औरतों के पास सुरक्षित और अपने नियंत्रण वाले गर्भ निरोधकों की सुविधा नहीं है। सरकारी केंद्रों और अस्पतालों में नसबंदी जैसे स्थाई या आई यू डी जैसे दीर्घकालिक गर्भ निरोधकों पर ज़ोर दिया जाता है जिनका बाद में ध्यान रखने की विशेष ज़रूरत नहीं होती और जिन्हें फ़ासला रखने वाले अन्य साधनों की तुलना में ज्यादा भरोसेमंद समझा जाता है। सच तो यह है कि कुल गर्भ निरोधकों का 75% भाग नसबंदी का है उसमें भी 95% नस बंदियाँ औरतों की ही होती हैं।

पूरे देश में प्रजनन आयु वर्ग के आधे से भी कम जोड़े गर्भ निरोधकों का प्रयोग करते हैं। बिहार तथा उत्तर प्रदेश जैसे ग़रीब राज्यों में यह प्रतिशत और भी कम है, मात्र 30%।
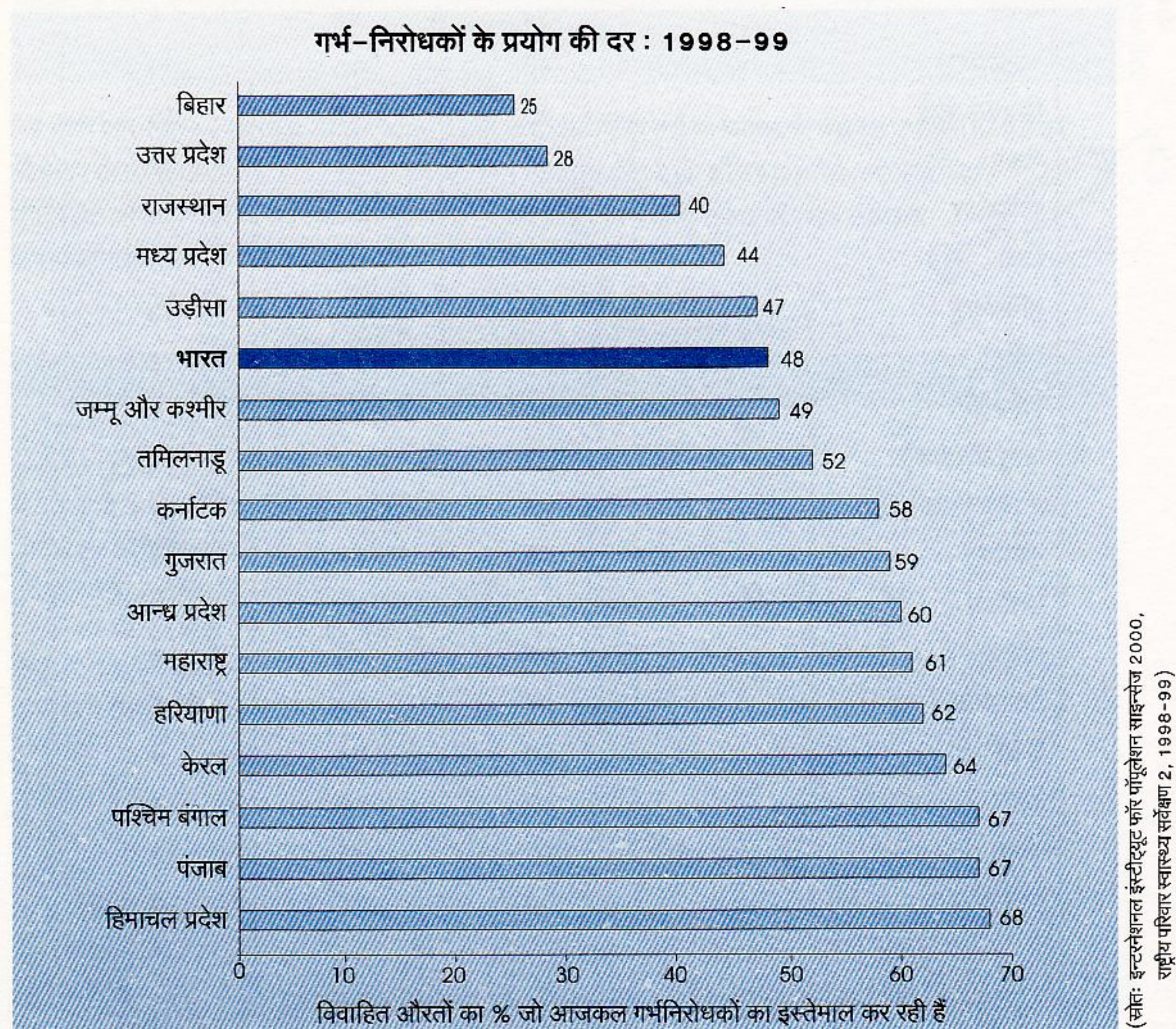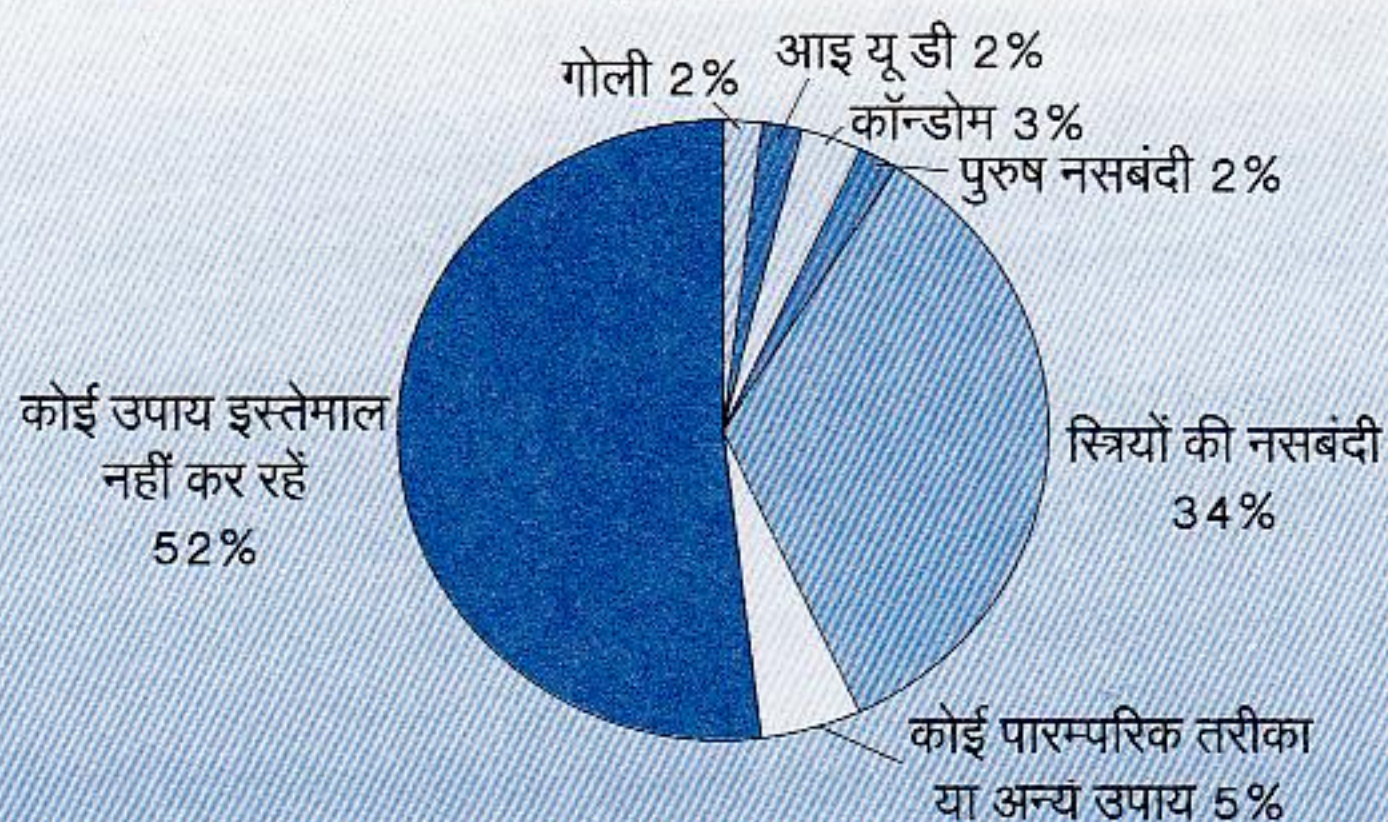
(स्रोतः इन्टरनेशनल इंस्टीट्यूट फॉर पॉपुलेशन साइन्सेज 2000, राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण 2, 1998-99)

यह सच है कि 52% जोड़े किसी गर्भ निरोधक का इस्तेमाल नहीं कर रहे हैं लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि शादीशुदा औरतें गर्भनिरोधक इस्तेमाल नहीं करना चाहतीं । स्थाई या लम्बे समय वाले गर्भनिरोधक जैसे नसबंदी और आइ यू डी पर ज़ोर, पुरुष डाक्टरों से सलाह लेने में शर्म, प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों में एकान्त की कमी, पुरुषों द्वारा कॉन्डोम इस्तेमाल के प्रति अनिच्छा ये सभी घटक मिल कर औरतों को उपलब्ध गर्भ निरोधकों को पाने से रोकते हैं।

अनेक औरतें गर्भपात को गर्भ निरोधक के रूप में सिर्फ़ इसलिए चुनती है क्योंकि उनके पास और कोई रास्ता नहीं है। यदि गर्भपात किसी प्रशिक्षित डॉक्टर द्वारा कीटाणुरहित वातावरण में किया जाता है तो वह सुरक्षित तथा ख़तरे से खाली हो सकता है। परन्तु ग्रामीण भारत की अधिकांश औरतें जो गर्भपात करवाना चाहती है उन्हें सुरक्षित गर्भपात उपलब्ध नहीं है।

1995के सेवा वितरण आकड़ों के आधार पर मान्य गर्भपात केन्द्रों का भौगोलिक फैलाव

राज्य	*मान्य गर्भपात केन्द्रों की संख्या (1995)*	*भारतीय जनसंख्या का %*	*प्रति दस लाख जनसंख्या पर गर्भपात केन्द्र*
गुजरात	557	4.9	21
महाराष्ट्र	1,808	9.4	23
तमिलनाडू	645	6.7	11
उत्तर प्रदेश	576	16.6	4
बिहार	116	10.3	1
मध्य प्रदेश	297	7.9	5
राजस्थान	432	5.2	10
भारत	**8,511**	**100.0**	**10**

(स्रोत : पचौरी (सं) में, खान व साथी 1999)

जब सुरक्षित गर्भपात सुविधाओं के आँकड़ों को उन जोड़ों के आँकड़ों के साथ रख कर देखा जाता है जिनकी गर्भपात के अलावा अन्य गर्भ निरोधकों तक पहुँच है तो परिणाम बहुत निराशाजनक होता है।

जिन राज्यों में गर्भनिरोधकों का इस्तेमाल सबसे कम है, जहाँ यह समझा जा सकता है कि औरतों को सुरक्षित गर्भपात सेवाओं की सबसे अधिक ज़रूरत होगी, वास्तव में वहाँ गर्भपात के मान्य केंद्रों की संख्या सबसे कम है।

उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा बिहार में दस लाख की आबादी पर पाँच से भी कम ऐसे केन्द्र हैं। बिहार में दस लाख लोगों पर एक केन्द्र है। क्या यह कोई ताज्जुब की बात है कि इन्ही राज्यों में मातृत्व मृत्यु दर बहुत ऊँची है?

औरतों का स्वास्थ्य : राष्ट्रीय स्थिति

यदि आँकड़ों के हिसाब से चलें तो औरतों के लिए स्वास्थ्य तभी एक मुद्दा बनता है जब वे गर्भवती होती हैं या हाल में प्रसव हुआ होता है। यदि औरतों के स्वास्थ्य की राष्ट्रीय स्थिति की तस्वीर बनानी हो तो हमें सिर्फ़ प्रजनन स्वास्थ्य संबंधी सूचक मिलेंगे क्योंकि भारतीय औरतों के सामान्य स्वास्थ्य के बारे में कोई जानकारी मौजूद ही नहीं है।

प्रजनन स्वास्थ्य संबंधी सूचक

	राज्य का प्रति व्यक्ति घरेलू उत्पाद (रु.) 1997-98	मातृत्व मृत्यु दर (प्रति 10,000 जीवित जन्मों पर माताओं की मृत्यु)	अशोधित जन्म दर (प्रति 1000 की आबादी पर, 1999)	25-49 आयु वर्ग की औरतों का % जिनकी शादी 18 साल से पहले हुई	15-49 आयु वर्ग की कभी शादी हुई औरतें जिन्हें किसी तरह की खून की कमी है का %	स्वास्थ्यकर्मियों की देखरेख में हुए प्रसवों का %	चिकित्सा केन्द्र/अस्पताल में हुए प्रसवों का %	गर्भ निरोधक प्रसार दर %	टेटनस का टीका पाने वाली औरतों का %
दो सबसे धनी राज्य									
पंजाब	19,500	199	21.5	22.7	41.4	62.6	37.5	66.7	89.9
महाराष्ट्र	18,365	135	21.1	65.1	48.5	59.4	52.6	60.9	74.9
तीन सबसे गरीब राज्य									
उत्तर प्रदेश	7,263	707	32.8	79.6	48.7	22.4	15.5	28.1	51.4
बिहार	4,654	452	31.5	83.9	63.4	23.4	14.6	24.5	57.8
केरल	11,936	198	18.0	27.1	22.7	94.0	93.0	63.7	86.4
भारत	**12,729**	**407**	**26.1**	**64.6**	**51.8**	**42.3**	**33.6**	**48.0**	**66.8**

(स्रोत: भारत सरकार 2000 आर्थिक सर्वेक्षण 1999-2000 तथा जनसंख्या अध्ययन के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संस्थान 1995 तथा 2000, राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण 1 और 2 1992-93 और 1998-99)

भारत ने वर्ष 2000 के लिए महत्वाकांक्षी स्वास्थ्य लक्ष्य बनाए थे। आज किसी भी अनुमान से देखें तो राष्ट्रीय स्वास्थ्य स्थिति काफ़ी निम्न स्तर पर है । अभी लक्ष्यों तक पहुँचने के लिए बहुत लम्बा रास्ता तय करना बाकी है।

इस हालत में ज़ाहिर है कि लक्ष्यों को पाने की तिथि रेखा को भविष्य में आगे, और आगे बढ़ाया जाएगा। औरतों के स्वास्थ्य के लक्ष्य राष्ट्रीय एजेन्डा में , नज़र से ओझल होते हुए निशाने बन जाएँगें और बार-बार आगे ख़िसकाते-ख़िसकाते एक दिन गायब हो जाएँगें।

वर्ष 2000 तक के स्वास्थ्य व परिवार कल्याण के प्रत्यक्ष लक्ष्य

सूचक	हाल के अनुमान	2000 के लिए लक्ष्य
1. शिशु मृत्यु दर	70 (1999)	60 से कम
2. प्रसव पूर्व मृत्यु दर	42.0 (1998)	30-35
3. अशोधित मृत्यु दर	8.7 (1999)	9
4. मातृत्व मृत्यु दर	4.07 (1997)	2.00 से नीचे
5. जन्म के समय जीवन संभावना (वर्षों में)		
पुरुष	63.0 (1996-2001)	64
महिला	63.4 (1996-2001)	64
6. जन्म के समय 2000 ग्राम से कम वजन के शिशुओं का %	30 (1993)	10
7. अशोधित जन्म दर	26.1 (1999)	21
8. जोड़ों की प्रभावी सुरक्षा दर (%)	45.4 (1998)	60
9. कुल प्रजनन दर	2.85 (1996-98)	2.2
10. प्रसव पूर्व देखभाल पाने वाली गर्भवती माताओं की %	65.1 (1998-99)	100
11. प्रशिक्षित दाइयों द्वारा प्रसव (%)	76.7 (1998-99)	100
12. टीकाकरण स्थिति (%)	42 (1998-99)	100

(स्रोत: भारत सरकार (1999) तथा जनसंख्या अध्ययन अन्तर्राष्ट्रीय संस्थान 1995 तथा 2000, राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण 1 तथा 2 1992-93 तथा 1998-99)

दुर्भाग्य से लक्ष्यों को आगे खिसकाने और समय पर काम पूरा न होने को प्रायः सामान्य बात समझा जाता है कम से कम सामाजिक क्षेत्र में तो यही स्थिति है। नीति के स्तर पर आज भी स्वास्थ्य को एक तकनीकी और चिकित्सा का मुद्दा समझा जाता है। महिला समूहों तथा स्वास्थ्य संबंधी काम कर रहे ग़ैर सरकारी संगठनों ने बताया है कि परिवर्तनशील सामाजिक व राजनैतिक घटकों को नज़रअंदाज करने से औरतें और भी हाशिए पर धकेल दी जाएँगी।

पल्स पोलियो अभियान

पल्स पोलियो अभियान की शुरुआत इस सोच से हुई कि सर्वव्यापक टीकाकरण के लक्ष्य को पाना सिर्फ तकनीकी या प्रबन्धकीय समस्या नहीं है जिसके लिए पर्याप्त वैक्सीन का उत्पादन करना पर्याप्त कर्मियों को प्रशिक्षित करना और शीत श्रृंखला तैयार करना ही काफी होता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एक सम्पूर्णात्मक रणनीति तैयार की गई जिसका केंद्र बिंदु लोग थे।

- पोलियो उन्मूलन के साथ बड़े पैमाने पर लोगों को जोड़ा और प्रेरित किया गया, इसे राष्ट्रीय गर्व के रूप में पेश किया गया।
- सभी पार्टियों के राजनेताओं के जुड़ाव और व्यक्तिगत समर्थन सहित सबसे ऊँचे स्तर से राजनैतिक सहयोग ।
- जागरूकता बढ़ाने के लिए निरन्तर, सुव्यवस्थित जन माध्यमों का तथा पैरवी अभियान ।
- व्यापक योजना ताकि समाज के सभी वर्गों का जुड़ाव सुनिश्चित हो सके यहाँ तक कि टीकाकरण के दिन को छुट्टी घोषित करना ताकि कामकाजी माता पिता अपने बच्चों को टीकाकरण केंद्र ले जा सकें।
- सभी सरकारी एजेंन्सियों तथा योजनाओं के जमीन से जुड़े कार्यकर्ताओं को संगठित करने के लिए अन्तर्विभागीय सहयोग।
- सरकारी, ग़ैर सरकारी संस्थाओं तथा निजी संस्थाओं के वित्तीय, चिकित्सकीय तथा अन्य संसाधनों को इकट्ठा करना।
- प्रत्यक्ष प्रशासकीय तंत्र द्वारा प्रभावकारी ढंग से समन्वय और सम्पूर्ण सहयोग ।
- कार्य की प्रगति पर ध्यानपूर्वक नजर तथा उसका मूल्यांकन ।

इन उपायों से सुनिश्चित हो सका कि पल्स पोलियो अभियान एक राष्ट्रीय मिशन बने और इससे यह साबित होता है कि यदि सशक्त राजनैतिक इच्छाशक्ति हो तो सरकार सफलता सुनिश्चित करने के तरीके ढूँढ सकती है।

शिक्षा का अधिकार

पढ़ने-लिखने की क्षमता मानव योग्यता का एक ज़रूरी हिस्सा है। साक्षरता पहला क़दम है जिससे शिक्षा पाने के अन्य उपकरण मिलते हैं तथा ज्ञान और सूचनाओं की एक बड़ी दुनियाँ के दरवाजे खुल सकते हैं जो अन्यथा उनकी पहुँच के बाहर रहती है। शिक्षा से औरतों के पास अवसर बढ़ जाते हैं, वे जानकार चुनाव कर सकती हैं, दबाव का विरोध करने में सक्षम हो जाती हैं तथा अपने हक़ माँगने योग्य हो जाती हैं। शिक्षा का अधिकार अन्य बुनियादी मानव अधिकारों के साथ अटूट रूप से जुड़ा हुआ है जैसे भेदभाव से आज़ादी का अधिकार, काम का अधिकार, स्वयं तथा समुदाय को प्रभावित करने वाले फ़ैसलों में भागीदारी का अधिकार।

भारतीय औरतें कितनी शिक्षित हैं?

1999 की जनगणना के समय सिर्फ़ 39% भारतीय औरतें पढ़-लिख सकती थी। 2001 की भारतीय जनगणना के अनुसार महिला साक्षरता दर 54% तक पहुँच गई है। 1951 में पाँच साल से ऊपर की लड़कियों/औरतों की साक्षरता दर सिर्फ़ 9% थी। इस प्रकार से पिछले 50 सालों में यह दर छः गुना बढ़ गई है।

इस प्रगति के बावजूद क़रीब 19 करोड़ औरतें लिखने पढ़ने की बुनियादी योग्यता भी नहीं रखतीं।

महिला साक्षरता दर विभिन्न राज्यों में अलग-अलग है। 2001 की भारतीय जनगणना के परिणाम विचार करने योग्य हैं। सिर्फ़ केरल तथा मिज़ोरम में सम्पूर्ण महिला साक्षरता है। उड़ीसा, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, अरूणाचल प्रदेश, झारखंड, मध्य प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, तथा बिहार में लगभग 50% औरतें आज भी लिखना-पढ़ना नहीं जानती हैं।

भारत में महिला साक्षरता (%)

भारत	**54**		
केरल	88	गुजरात	59
मिज़ोरम	86	कर्नाटक	57
गोवा	76	आसाम	56
हिमाचल प्रदेश	68	हरियाणा	56
महाराष्ट्र	68	छत्तीसगढ़	52
तमिलनाडू	65	आन्ध्र प्रदेश	51
त्रिपुरा	65	उड़ीसा	51
पंजाब	64	मध्य प्रदेश	50
नागालैण्ड	62	अरूणाचल प्रदेश	44
सिक्किम	61	राजस्थान	44
मेघालय	60	उत्तर प्रदेश	43
मणिपुर	60	जम्मू और कश्मीर	42
पश्चिम बंगाल	60	झारखंड	40
उत्तरांचल	60	बिहार	34

(स्रोतः रजिस्ट्रार जनरल तथा जनगणना कमिश्नर 2001 भारतीय जनगणना)

अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति

अधिकांश विकसित देशों में लगभग पूरी आबादी पढ़ना-लिखना जानती है। कई विकासशील देशों में भी औरतों की साक्षरता दर उतनी ही ऊँची है।

वयस्क महिला साक्षरता दर (%) 1998

थाइलैंड	94
वियतनाम	91
श्रीलंका	87
मलेशिया	83
इंडोनेशिया	81
चीन	76

भारत में महिला साक्षरता दर उप सहारा अफ्रीका के देशों से सिर्फ़ थोड़ी सी अधिक है जहाँ 53% औरतें लिख पढ़ सकतीं हैं। कई अफ्रीकी देशों में महिला साक्षरता दर भारत से अधिक है।

कौंगो	73
ज़ाम्बिया	70
तंज़ानियाँ	66
मैडागास्कर	59
रूवांडा	59

(आँकड़ों से दशमलव हटा दिए गए हैं)

(स्रोत : संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम 2001 मानव विकास रिपोर्ट)

बिहार से कम, वयस्क महिला साक्षरता दर वाले देश 1998

पूरी दुनियाँ में सिर्फ़ 17 देश ऐसे हैं जहाँ महिला साक्षरता दर बिहार से भी कम है। इनमे 12 देश उप सहारा अफ्रीका में हैं।

नाइजर	7.9	बांगलादेश	29.3
बर्कीना फेसो	13.3	पाकिस्तान	30.0
गिनी बिसाऊ	18.3	मौरीतानिया	31.4
नेपाल	22.8	लाओ पी डी आर	31.7
बेनिन	23.6	इथोपिया	31.8
यमन	23.9	चैड	32.3
सेनेगल	26.7	माली	32.7
मोज़ाम्बिक	27.9	केंद्रीय अफ्रीकी गणराज्य	33.3
गैम्बिया	28.5		

(आँकड़े प्रतिशत में)

(स्रोत : संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम 2001 मानव विकास रिपोर्ट)

कितनी लड़कियाँ स्कूल जाती हैं?

पचास साल से भी पहले भारतीय संविधान ने सभी बच्चों को 14 साल की उम्र तक नि:शुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा के अधिकार का आश्वासन दिया था। यह लक्ष्य स्वतन्त्रता प्राप्ति के पहले दस सालों में यानि सन् 1960 तक पा लिया जाना था। आज यह लक्ष्य भविष्य में खिसका दिया गया है- भारत सन् 2010 तक सर्वव्यापक शिक्षा का लक्ष्य पाने की आशा करता है।
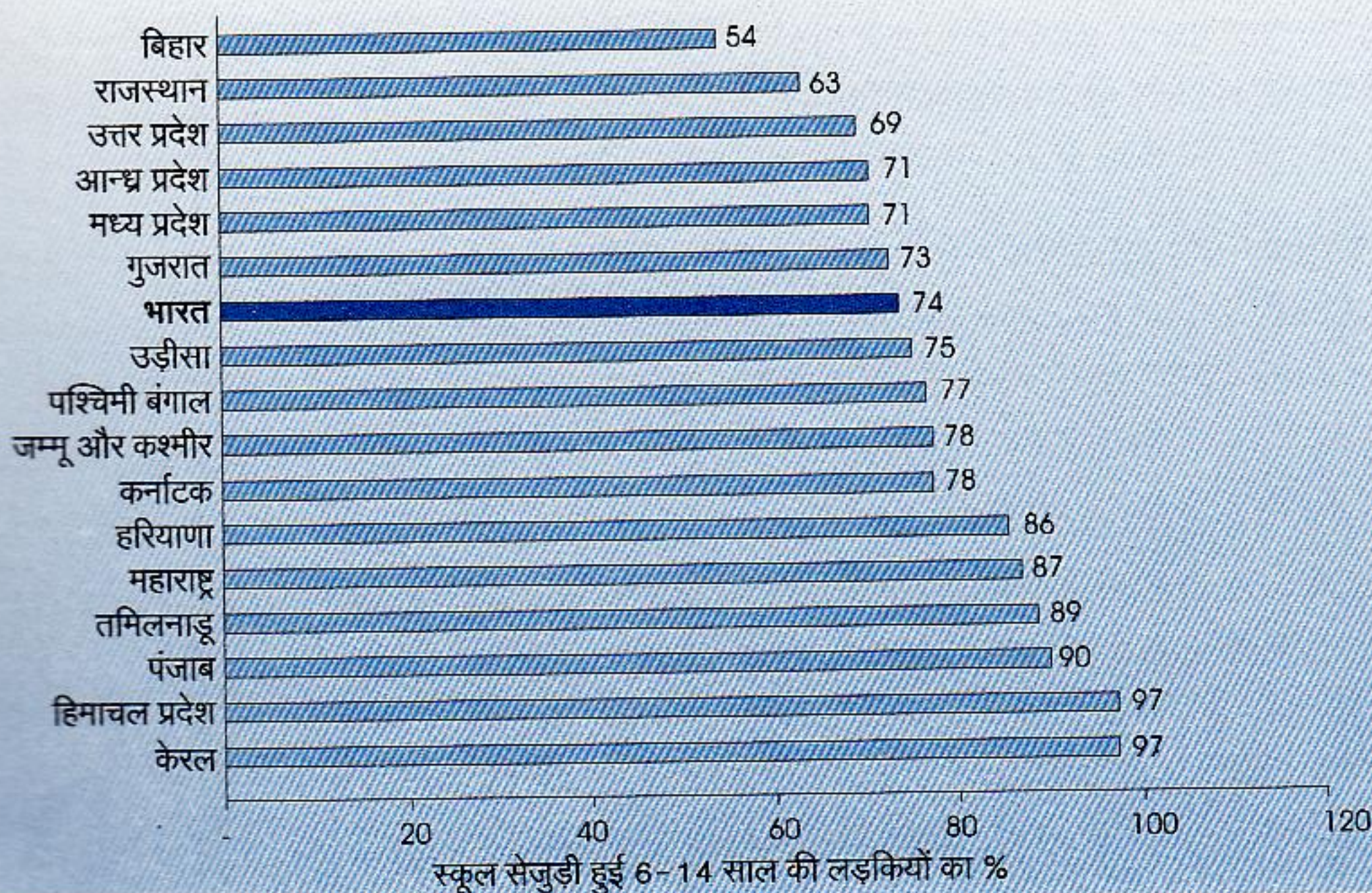
केरल और हिमाचल प्रदेश में 5% से भी कम लड़कियाँ स्कूल से बाहर है और वे अवश्य इस बात की खुशी मना सकते हैं लेकिन औरों का क्या? क्या बिहार, जहाँ आधी लड़कियाँ जिन्हें स्कूल जाना चाहिए था पर नहीं जा रही है सिर्फ़ दस सालों में सर्वव्यापक शिक्षा का लक्ष्य पा लेगा ?

ग़रीब घरों की अधिकांश लड़कियों के लिए स्कूल जाना एक असंभव सपना है। ग़रीब घरों में लड़के और लड़कियाँ दोनों ही बचपन से घरेलू कामों में मदद देने लगते हैं लेकिन जैसे-जैसे वे बड़े होते हैं लड़कियों के काम का बोझ अनुपात से कहीं ज़्यादा बढ़ने लगता है। जब तक वे किशोरावस्था तक पहुँचती हैं जीने के लिए ज़रूरी कामों के बोझ का एक बड़ा हिस्सा उठाने लगती हैं जैसे पानी लाना, ईंधन और चारा इकट्ठा करना, खाना पकाना, सफ़ाई करना और छोटे भाई बहनों की देखभाल।

सर्वव्यापक बुनियादी शिक्षा को वास्तविक बनाना

कुछ लोग आज भी इस बात पर बहस कर रहे हैं कि क्या बुनियादी शिक्षा को सर्वव्यापक बनाना महत्वपूर्ण है। भारत के लिए एक प्रकार से इस सवाल का फ़ैसला वर्षों पूर्व हो गया था। भारतीय संविधान के दिशा निर्देशक सिद्धान्तों का अनुच्छेद 45 सभी राज्यों से आग्रह करता है कि 14 वर्ष कि आयु तक के सभी बच्चों को वे निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा दें। फरवरी 1993 में उच्तम न्यायालय ने इस बिंदु की फिर से पुष्टि की।

बुनियादी शिक्षा पाना मूलभूत अधिकार है यह बात स्पष्ट रूप से संविधान के प्रतिक्षित 83 वें संशोधन में समाहित है जिसका मसौदा तैयार हो चुका है परंतु संसद में चर्चा होनी अभी बाकी है। जनता के दबाव की ज़रूरत है ताकि यह संशोधन वास्तविकता बन जाए।

यदि 83 वाँ संशोधन बिल पास हो जाता है तो वह सर्वव्यापक बुनियादी शिक्षा के रास्ते पर एक अहम मील का पत्थर साबित होगा तथा वह बुनियादी शिक्षा के मूलभूत अधिकार का पहला ठोस समर्थन होगा। यह बिल प्रभावपूर्ण ढंग से उन सभी शिकायतों और बहानों का जवाब दे देगा जो लगातार सर्वव्यापक बुनियादी शिक्षा के लक्ष्य को न पूरा कर पाने के बदले में दिए जाते हैं जैसे ''यह कभी नहीं हो सकता'', ''हमारे पास इतने संसाधन नहीं हैं'', ''व्यवस्था अभी इसके लिए तैयार नहीं हैं'', ''माँ बाप नहीं चाहते हैं'' आदि।

परन्तु सिर्फ़ कानून ही काफ़ी नहीं है। सर्वव्यापक बुनियादी शिक्षा तभी पाई जा सकती है जबकि हर बच्चे के लिए स्कूल जाने को, एक सामाजिक रिवाज बनाने के लिए लगातार सामाजिक दबाव के साथ-साथ राष्ट्रीय प्रतिबद्धता भी हो।

(स्रोत: सार्वजनिक रिपोर्ट 1999)

सरकारी आँकड़ों के ज़रिए लड़कियों के काम के बोझ का निश्चित अंदाजा नहीं होता है। पिछली जन-गणना के अनुसार स्कूल जाने वाली उम्र की थोड़ी ही लड़कियों को कामगार के रूप में दर्ज किया गया। सबसे अधिक संख्या आन्ध्र प्रदेश में है, जहाँ पाँच से चौदह साल के बीच की हर दसवीं लड़की मज़दूरी पाने वाली श्रमशक्ति की सदस्य है।

श्रमशक्ति में बच्चों की भागीदारी दर, 1991

राज्य	कुल कामगार (मिलियन में)	5-14 आयु वर्ग की लड़कियों का % जिन्हें कामगार दर्ज किया गया है
आन्ध्र प्रदेश	5.53	10.54
बिहार	3.35	2.93
कर्नाटक	5.61	8.71
मध्य प्रदेश	4.79	8.56
राजस्थान	4.57	7.88
उत्तर प्रदेश	3.14	2.46
पश्चिम बंगाल	3.23	2.68

(स्रोतः रजिस्ट्रार जनरल तथा जनगणना कमिश्नर 2001 भारतीय जनगणना)

परंतु यह पूरी कहानी नहीं है। 1991 की जनगणना में यह भी दर्ज किया गया कि 5.2 करोड़ ऐसी लड़कियाँ हैं जो न तो स्कूल जाती हैं और न ही सवेतन श्रमशक्ति का हिस्सा हैं। अब सवाल यह उठता है कि ये बच्चे कहाँ छिपे हुए हैं ?

ये छिपे हुए अधिकांश बच्चे वो लड़कियाँ हैं जो घर के भीतर या असंगठित क्षेत्र में काम करती हैं। वयस्क औरतों की तरह ही उनका काम भी दिखाई नहीं देता और उसकी कम कीमत आँकी जाती है। इन बच्चियों का कोई बचपन नहीं होता और बाल श्रम के ख़िलाफ़ कोई मौजूदा कानून उनकी सुरक्षा नहीं करता।

घरेलू बाल श्रम : क्या लड़कियों को छुटकारा मिल सकता है?

आज की परिस्थितियों में घर में काम करने वाले या कृषि मजदूरी करने वाले बच्चों पर, चाहे वह अपने खेत में काम करते हों या मज़दूरी के लिए, कोई श्रम क़ानून लागू नहीं होता। अगर ऐसे कानून होते तब भी घर की चार दीवारी के भीतर परिवार वाले अपनी लड़कियों के साथ क्या करते हैं इसकी चौकीदारी करना मुमकिन नहीं है। इसका मतलब है कि लड़कियों का, घरेलू काम की गुलामी और पारिवारिक अत्याचार से छुटकारा नहीं हो सकता या उनके माता-पिता के रवैयों और मूल्यों में भारी बदलाव आए बग़ैर वे अपना शिक्षा का अधिकार भी नहीं पा सकतीं। अनेक महिला समूहों का विचार है कि बजाय घरेलू बाल श्रम पर प्रतिबंध लगाने या सर्वव्यापक शिक्षा का अभियान चलाने के, वयस्क औरतों को कुछ सहयोगी सेवाएँ देने, जैसे बच्चों की देखभाल, गाँव स्तर पर ईंधन और पानी आदि से लड़कियों को घरेलू काम से छुटकारा दिला कर स्कूल लाने में कहीं ज़्यादा मदद मिलेगी।

साक्षरता की खाई पाटना

भारत जैसे देश में, जहाँ संवैधानिक आश्वासन के चलते औरतों तथा मर्दों को समान रूप से शिक्षा पाने का अधिकार है लेकिन फिर भी औरतों तथा मर्दों की साक्षरता दर के बीच की खाई इस बात की सूचक है कि औरतों के साथ भेदभाव किया जाता है।

पिछले दशक में राष्ट्रीय साक्षरता अभियान तथा लड़कियों व औरतों के लिए विशेष शिक्षा जैसे नए रचनात्मक और चर्चित कार्यक्रमों के बावजूद आज के आँकड़े इन कार्यक्रमों की सफलता पर सवालिया निशान लगाते हैं।

साक्षरता में जेंडर खाई (प्रतिशत बिन्दु)

	1991 जन गणना	2001 जन गणना
भारत	**25**	**22**
आन्ध्र प्रदेश	22	20
अरूणाचल प्रदेश	22	20
आसाम	19	16
बिहार	29	27
छत्तीसगढ़	31	25
गोआ	17	13
गुजरात	24	22
हरियाणा	29	23
हिमाचल प्रदेश	23	18
जम्मू और कश्मीर	25	24
झारखंड	30	29
कर्नाटक	23	19
केरल	7	6
मध्य प्रदेश	29	27
महाराष्ट्र	24	19
मणिपुर	24	18
मेघालय	8	6
मिज़ोरम	7	5
नागालैण्ड	13	10
उड़ीसा	28	25
पंजाब	15	12
राजस्थान	35	32
सिक्किम	19	15
तमिलनाडू	22	18
त्रिपुरा	21	16
उत्तर प्रदेश	30	27
उत्तरांचल	31	24
पश्चिम बंगाल	21	17

(स्रोत : रजिस्ट्रार जनरल तथा जनगणना कमिश्नर 2001, भारतीय जनगणना)

1991 की जनगणना तथा 1997 के सैम्पल सर्वेक्षण के अनुसार जेंडर के बीच साक्षरता की खाई यानि औरतों तथा मर्दों के बीच साक्षरता दर में अन्तर बहुत अधिक बना हुआ है। केवल तीन राज्य ऐसे है, केरल, मिज़ोरम तथा मेघालय जहाँ यह अन्तर 10 प्रतिशत बिंदुओं से कम है ।

प्रगतिशील गुजरात और आन्ध्र प्रदेश सहित लगभग सभी भारतीय राज्यों में पिछले दस सालों में जेंडर के बीच साक्षरता दर का अन्तर नाम के लिए कम हुआ है। दुनियाँ में सिर्फ़ चार देश ऐसे हैं जहाँ साक्षरता में जेंडर का अन्तर राजस्थान से ज़्यादा है- यमन (43 प्रतिशत बिंदु), गिनी बिसाऊ (40 प्रतिशत बिंदु), नेपाल (35 प्रतिशत बिंदु) तथा भूटान (34 प्रतिशत बिंदु)

क्या बिहार, राजस्थान और आन्ध्र प्रदेश जहाँ स्कूल आयु की लगभग एक तिहाई लड़कियाँ स्कूल नहीं जा रही हैं दस साल में वह करने की आशा कर सकते हैं जो पिछले पचास सालों में नहीं कर पाएँ हैं। यदि शिक्षा क्षेत्र में भारी निवेश किया जाए तो शायद वे कर पाएँ लेकिन सवाल यह है कि क्या वास्तव में निवेश किए जा रहे हैं?

एक बड़ी राष्ट्रीय उपलब्धि यह ज़रूर है कि लगातार ग्रामीण क्षेत्र में स्कूल खोले जा रहे हैं। आज देश की 95% जनता को एक किलोमीटर के भीतर एक प्राथमिक स्कूल उपलब्ध है । परंतु सर्वेक्षण बताते हैं कि इन स्कूलों की इमारतों की हालत बहुत ख़राब है, पर्याप्त सुविधाएँ नहीं है, खेल के मैदानों की तथा सफाई की कमी है, पर्याप्त शिक्षा साधन, किताबें और सामग्री नहीं है।
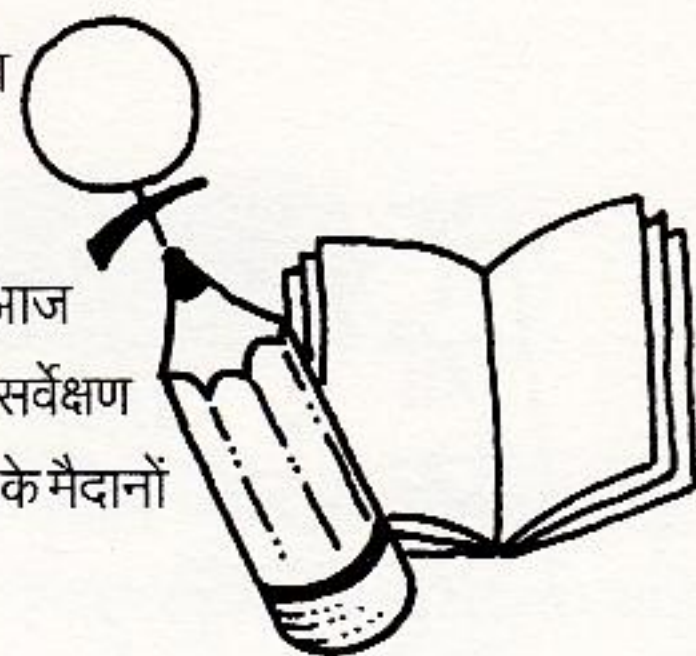
उत्तर भारत में स्कूलों की हालत

बुनियादी शिक्षा पर सार्वजनिक रिपोर्ट (प्रोब) ने 1996 में बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश के 188 गाँवों के 1221 प्राथमिक स्कूलों का सर्वेक्षण किया जिसके परिणाम बताते हैं कि-

- 44% स्कूलों में खेल के मैदान नहीं थे।
- 54% स्कूलों में पीने के पानी की व्यवस्था नहीं थी।
- 55% स्कूलों में शिक्षा सामग्री नहीं थी।
- 61% स्कूलों में खिलौने नहीं थे।
- 72% स्कूलों में पुस्तकालय नहीं था।
- 84% स्कूलों में संडास नहीं था।
- 12% स्कूलों में सिर्फ़ एक अध्यापक नियुक्त किया गया था। अन्य 21% स्कूलों में सर्वेक्षण के समय सिर्फ़ एक अध्यापक मौजूद था। इस प्रकार से सर्वेक्षण किए गए स्कूलों के एक तिहाई स्कूल दरअसल में एक अध्यापक वाले थे जहाँ एक ही अध्यापक पाँचों कक्षाओं को संभालता है, कभी-कभी 100 से भी अधिक बच्चों को।

(स्रोत : सार्वजनिक रिपोर्ट 1999)

शिक्षा के क्षेत्रों को संसाधनों का आबंटन आज भी सकल घरेलू उत्पाद के 6 % के लक्ष्य से नीचे है। हाल के वर्षों में प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम तथा राष्ट्रीय साक्षरता मिशन का वित्तीय आबंटन भी घटा है।

साक्षरता में औरतों का पिछड़ापन न सिर्फ़ उन्हें शिक्षा के अधिकार से वंचित रखता है बल्कि यह आर्थिक-समझदारी के ख़िलाफ़ है। इस बात के पर्याप्त सुबूत हैं कि औरतों की शिक्षा के क्षेत्र में निवेश करने से उसके फ़ायदे अन्य क्षेत्रों में भी मिलते हैं।

महिला समूह इस ओर इशारा करते रहे हैं कि हालांकि नीति निर्माताओं के बीच शिक्षा को आर्थिक लक्ष्य पाने के साधन के रूप में देखना अब काफ़ी लोकप्रिय हो गया है लेकिन फिर भी इस क्षेत्र में खर्चों में कमी आ रही है। हाल के वर्षों में भारत में महिला आंदोलन का ख़ास ज़ोर इस माँग पर रहा है कि शिक्षा के अधिकार को मूलभूत अधिकार के रूप में मान्यता दी जाए।

बिना शोषण के काम करने की आज़ादी

जाति, वर्ग और उम्र की परवाह न करते हुए सभी भारतीय औरतों से आशा की जाती है कि वे घर के अदृश्य और अवेतन कामों की ज़िम्मेदारी और जवाबदारी उठाएँ। औरतों के, घर से बाहर काम करने के अधिकार को भी निश्चित नहीं माना जा सकता। अन्य जगहों की तरह भारत में भी औरतों के लिए सवेतन रोज़गार करना, ज़िंदा रहने के लिए ज़रूरी मसले से कहीं अधिक है। अनेक औरतों के लिए रोज़गार ही एक ऐसा अवसर होता है जब वे घर की चार दीवारी से बाहर निकल पाती हैं तथा अन्य औरतों के साथ सम्पर्क कर पातीं हैं। यदि उनका काम ऐसा होता है जिसमें उन्हें अच्छा वेतन मिलता है, उनका आत्म सम्मान बढ़ता है और यदि वे अपनी आमदनी पर नियंत्रण रख पातीं हैं तो काम के ज़रिए परिवार के भीतर औरतों की स्वायत्तता तथा फ़ायदेमंद समझौता करने की ताक़त बढ़ जाती है।

कितनी भारतीय औरतें कामगार है?

अधिकतम भारतीय औरतें जीवन भर काम करती रहती हैं। विडम्बना यह है कि इस सचाई को आधिकारिक तौर पर स्वीकार नहीं किया जाता। श्रमशक्ति में भागीदारी के आँकड़ों में आज भी औरतों की भागीदारी दर बहुत कम है। मिसाल के लिए 1999-2000 में सिर्फ़ 26% भारतीय औरतों को कामगार या बारोज़गार दर्ज किया गया था। केवल 30% देहाती औरतों तथा 14% शहरी औरतों को कामगार के रूप में गिना गया जबकि 53% देहाती मर्दों तथा 52% शहरी मर्दों को उसी श्रेणी में रखा गया। राष्ट्रीय स्तर पर आँकड़े एकत्रित करने वाली एजेन्सियाँ मानती हैं कि कामगार के रूप में औरतों के योगदान को बड़े पैमाने पर कम आँका जा रहा है। राष्ट्रीय सैम्पल सर्वेक्षण का अनुमान है कि कम से कम 17% देहाती औरतों तथा 6% शहरी औरतों को ''ग़ैर कामगार'' दर्ज किया गया है।

श्रम शक्ति में औरतें

श्रम शक्ति में औरतों की भागीदारी, अर्थात उन वयस्क औरतों का प्रतिशत जो वास्तव में काम कर रही हैं, औरतों के दर्जे का संकेतक है तथा संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रमों की मानव विकास रिपोर्टों में जेंडर सशक्तिकरण मापक (जेम) का एक अहम घटक हैं।

अनेक अर्थशास्त्रियों ने बताया है कि ऊँची श्रमशक्ति भागीदारी का हमेशा यह अर्थ नहीं होता कि औरतों के पास अधिक स्वायत्तता है या उनका दर्जा ऊँचा है। भारत में जहाँ औरतों का घर में बैठना ऊँचे दर्जे का प्रतीक है, गरीब परिवारों की तथा दमित समुदायों की औरतें ही श्रमशक्ति का बड़ा हिस्सा है।

''हमारा इज्ज़तदार परिवार है, हमारी औरतें नीची ज़ाति की औरतों की तरह घर से बाहर काम करने नहीं जातीं'' यह टिप्पणी काफ़ी सुनने में आती है। वास्तव में ग्रामीण भारत में सक्रिय महिला आन्दोलन का अधिकतम हिस्सा भूमिहीन खेतीहर परिवारों और निम्न जाति की औरतों का है जो कृषि क्षेत्र में दिहाड़ी की मज़दूर के रूप में काम करती हैं। जो आमतौर पर ऊँची जाति के परिवारों की अलग थलग रहने वाली औरतों से कही ज़्यादा निडर और अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने को तैयार रहती हैं।

विडम्बना यह है कि औरतों के अलग रखने को ऊँचे दर्जे से जोड़ कर देखने का सोच दमित जातियों ने भी अपना लिया है। वे भी जब धनी हो जाते है तो अपने परिवार की औरतों को घर के भीतर रहने के लिए दबाव डालते हैं। पंजाब में हरित क्रांति के दौरान यही चलन देखा गया जब आमदनी बढ़ने के साथ श्रमशक्ति में औरतों की भागीदारी बढ़ने की जगह घट गई।

मौजूदा आँकड़ों तथा ज़मीनी सचाइयों में इतना बड़ा फ़र्क होने का एक कारण है, आँकड़े इकट्‌ठा करने का तरीका। जिसमें प्रायः काम उसी को माना जाता है जिसके बदले में पैसा मिलता है। इसके अलावा सर्वेक्षण करने वाले लोग प्रायः सिर्फ़ ''घर के मुखिया'' से बात करते हैं, जिससे जब पूछा जाता है कि ''क्या आपकी पत्नी काम करती है?'' तो उसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया होती है- ''नहीं, वो तो घरेलू औरत है''

परिणामस्वरूप औरतों द्वारा किया जाने वाला ज़्यादातर काम जैसे पानी, चारा, ईंधन लाना, खाना पकाना, सफ़ाई, बच्चों की देखभाल, बूढ़ों की सेवा परिवार के खेतों में या व्यवसाय में निशुल्क काम करना आदि छिपा दिया जाता है और राष्ट्रीय आँकड़ों से ग़ायब हो जाता है।
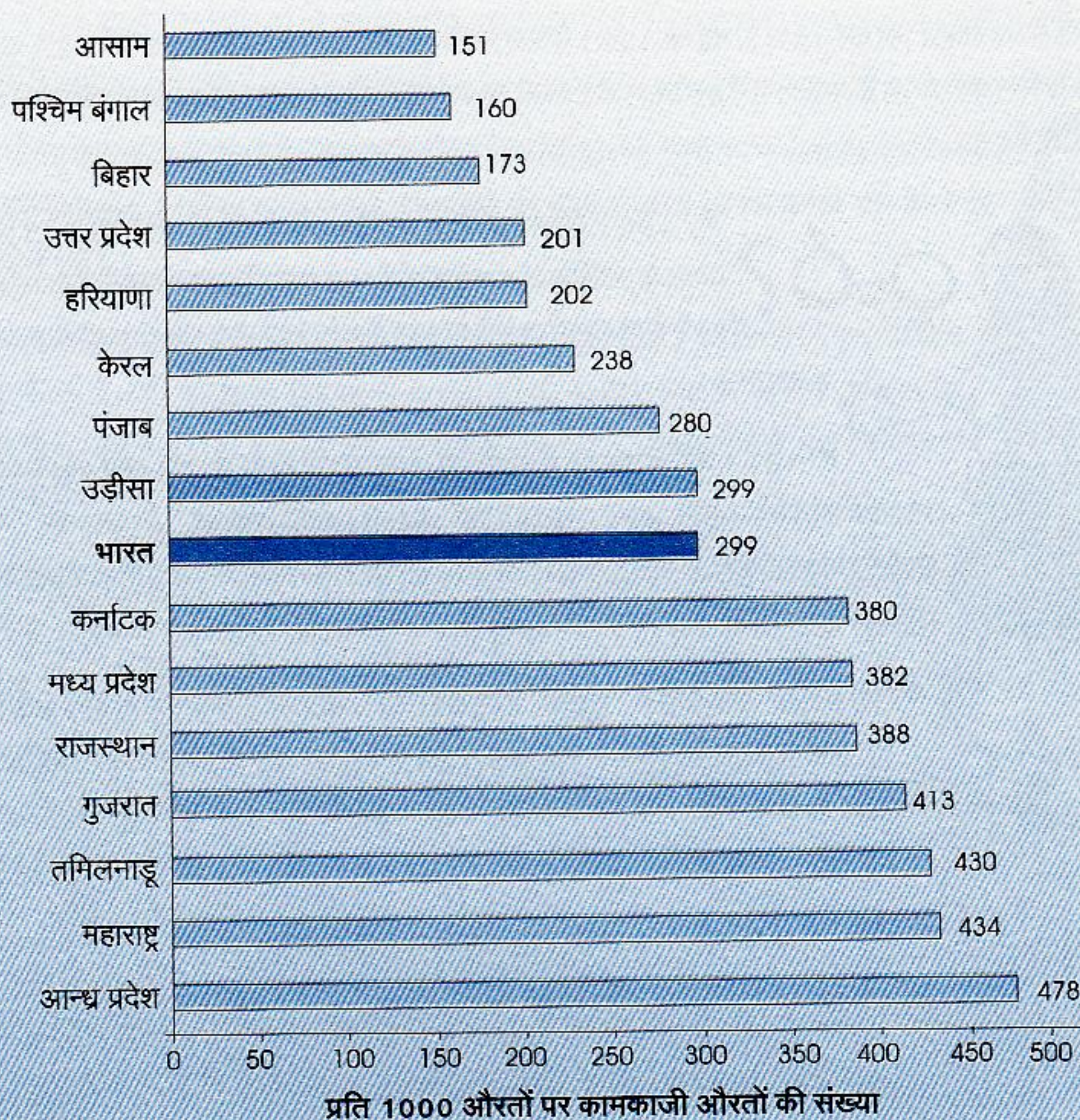
1998-99 में केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन द्वारा सारे देश में 18,600 औरतों तथा मर्दों के समय इस्तेमाल संबंधी सर्वेक्षण से औरतों के अदृश्य कामों के बारे में निम्न बातें मालूम हुई।

- औरतें औसतन मर्दों से 2 घंटे कम सोती हैं।
- औरतें मर्दों से दस गुना ज़्यादा समय घरेलू कामों में लगती हैं। यह बात उन परिवारों पर भी लागू होती है जहाँ औरतें घर से बाहर भी पूर्णकालिक काम करती हैं।
- मर्दों को दिन में दो घंटे से ज़्यादा आराम का समय मिलता है जबकि औरतों को सिर्फ़ पाँच मिनट मिलते हैं।
- मर्द खाना पकाने में, सप्ताह में एक घंटे से कम समय लगाते हैं जबकि औरतें हर सप्ताह 15 घंटे खाना पकाने में लगाती हैं।

(स्रोत : केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन, 2000)

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में औरतों की भागीदारी को कम आँके जाने के साथ-साथ औरत कामगारों के अनुपात में काफ़ी अजीब से उतार-चढ़ाव दिखाई देते हैं विशेषतः देहाती इलाकों में। 1961 में 31% देहाती औरतों को कामगार के रूप में दर्ज किया गया। 1971 में यह संख्या गिर कर 16% हो गई जो 1981 में फिर चढ़कर 23% पर पहुँची और 1991 में 22% रह गई। इस उतार-चढ़ाव के लिए एक कारण है जनगणना में इस्तेमाल होने वाली कामगार की परिभाषा जो अनेक महिला कामगारों को गणना से बाहर छोड़ देती है।

- 1961 की जनगणना में जो भी व्यक्ति गणना से पहले सिर्फ़ 15 दिन तक भी किसी प्रकार के आर्थिक उत्पादन कार्य में लगा था उसे कामगार माना गया। इस प्रकार कृषि जैसे मौसमी काम या घरेलू धंधे के काम में यदि कोई रोज़ एक घंटा भी देता था तो वह कामगार समझा गया।

- 1971 की जनगणना में लोगों को कामगार की श्रेणी में तभी रखा गया यदि आर्थिक रूप से उत्पादक कार्य को उन्होंने अपना ''मुख्य काम'' बताया। बाकी सभी को ''ग़ैर कामगार'' माना गया। घरेलू धंधों में मदद करने वाली औरतें जो घर का काम भी करती हैं कामगार के रूप में दर्ज नहीं की गई क्योंकि वह उनका ''पूर्णकालिक'' काम नहीं था।

- 1981 का जनगणना में ''मुख्य'' कामगार तथा ''सहायक'' कामगार के बीच फ़र्क किया गया। जिन लोगों ने गणना के पिछले एक साल में कम से कम छः महिनों तक या उससे ज़्यादा समय काम किया था उन्हें कामगार माना गया। इस प्रकार बहुत सी औरतें जो कृषि के मौसमी कामों से जुड़ी थीं वे सहायक कामगारों की श्रेणी में रखी गईं।

अर्थव्यवस्था में औरतों के योगदान को कम आँके जाने के तथ्य को मानते हुए 2001 की जनगणना में महिला कामगारों की पहचान करने और दर्ज करने के लिए ख़ास कोशिशें की गईं। जनगणना दर्जकर्ताओं को कामगारों की विभिन्न श्रेणियों को पहचानने और दर्ज करने का प्रशिक्षण दिया गया जो पिछली जनगणनाओं में छूट गए थे।

- औरतें, बच्चे तथा बूढ़े जो पारिवारिक खेतों में समय-समय पर काम करते हैं।
- पैसे या अनाज/वस्तुओं की मज़दूरी पर काम करने वाली औरतें तथा बच्चे।
- स्वः रोज़गार करने वाली औरतें तथा बच्चे या जो घरेलू व्यवसाय में बग़ैर वेतन के काम करते हैं।
- घर से दुकान चलाने या बाज़ार, मेलों आदि में जाकर सामान बेचने वाली औरतें तथा बच्चे।

इस सबके बावजूद अपने घर में घरेलू काम करने वाली औरतें व बच्चे आज 2001 की जनगणना में भी अदृश्य रहे हैं।

औरतें किस तरह के काम करती हैं?

भारतीय औरतों में से सिर्फ़ थोड़ी सी संख्या को ही आधिकारिक रूप से कामगार और वेतनभोगी माना जाता है। इनमें से अधिकांश मुख्यतः खेती बाड़ी व पशुपालन के क्षेत्र में मज़दूरी करती हैं।

इसमें से कई श्रेणियों का काम परस्पर व्यापी है। मिसाल के लिए जो औरतें फ़सल के मौसम में खेतों पर काम करती हैं वे घर में कपड़ा बुनने या बरतन बनाने या खाद्य पदार्थ, दस्तकारी की चीज़ें या अन्य सामान बनाने और बेचने का पारम्परिक काम भी करती हैं।

1991 में ग्रामीण श्रम आयोग का अनुमान था कि सिर्फ़ देहाती इलाकों में ही करीब 2 करोड़ औरतें इस प्रकार के घर आधारित काम करती हैं। यदि हम शहरी इलाकों की उन औरतों की बढ़ती संख्या को भी गिनें, जो पोशाकें, कपड़ा, चमड़े के सामान, नकली ज़ेवरात, बीड़ी बनाना, बिजली की चीज़ें आदि जैसे उद्योगों से जुड़ा काम घर पर रह कर ठेके पर करती हैं तो कुल संख्या दुगनी से ज़्यादा हो जाएगी।

हालांकि ये औरतें मज़दूरी पाती हैं लेकिन फिर भी प्रायः राष्ट्रीय आँकड़ों में दिखाई नहीं देतीं क्योंकि ये घर पर रह कर काम करती हैं, उनके काम को घरेलू काम का ही हिस्सा समझा जाता है। सच तो यह है कि सर्वेक्षणों के दौरान ये औरतें अपने आपको घरेलू औरत ही कहती हैं हालांकि ये आमदनी कमाने के लिए 14 से 16 घंटे तक रोज़ काम करती हैं।
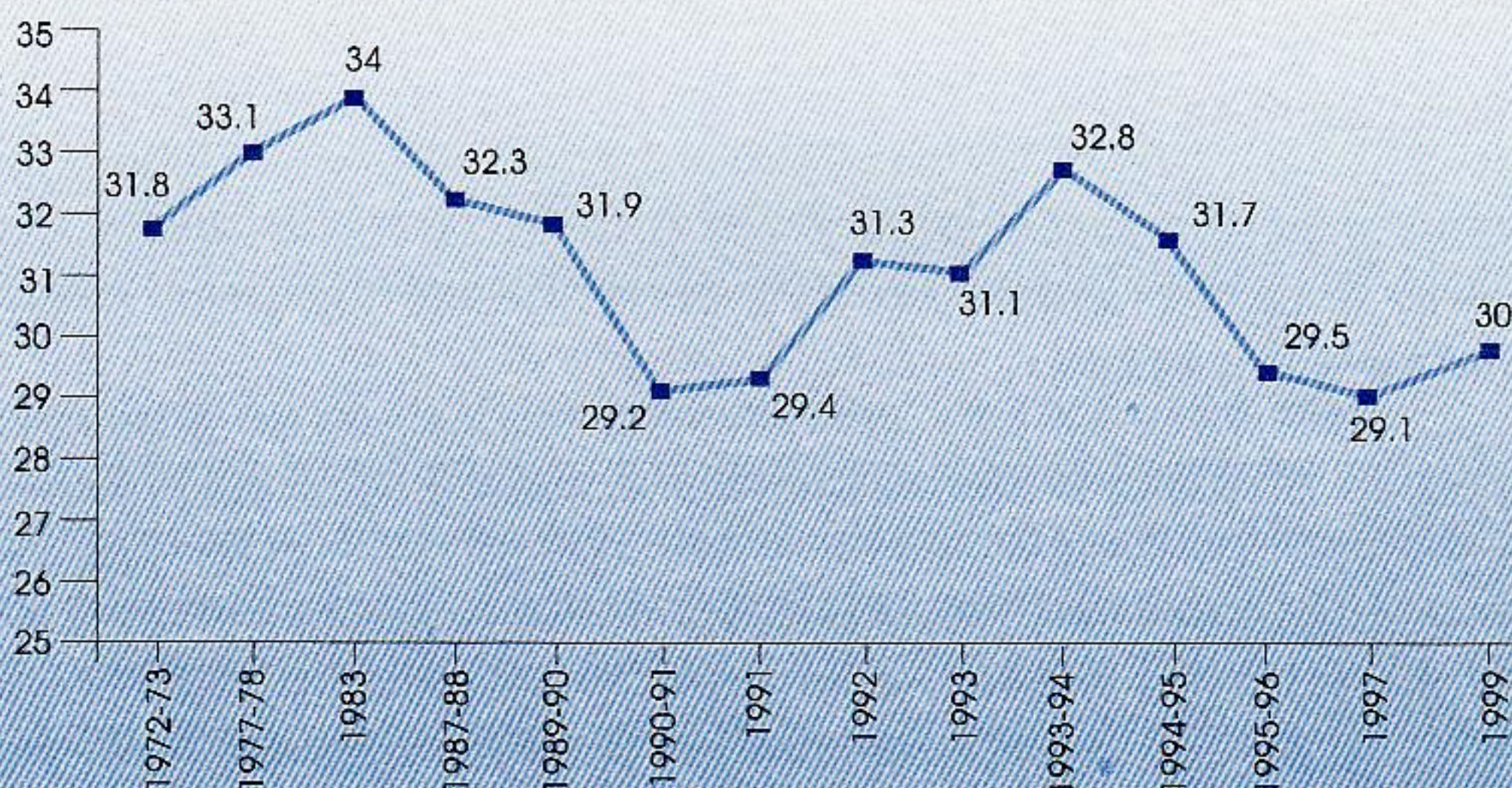
श्रम आँकड़ों में औरतों का योगदान कम दिखाए जाने के बावजूद वे उत्पादक रोज़गार तक औरतों की पहुँच के सामान्य ढर्रे ज़रूर दर्शाते हैं। श्रमशक्ति के सभी क्षेत्रों में औरतों की संख्या सामान्य रूप से गिरने से विशेषतः पिछले पाँच सालों में, यह पता चलता है कि नब्बे के दशक के आर्थिक बदलावों का औरतों को कोई फ़ायदा नहीं मिला है।

औरतें प्राकृतिक सम्पदा /संसाधनों की व अर्थव्यवस्था की उपयोगकर्ता तथा प्रबन्धक के रूप में बहुत अहम भूमिका निबाहती हैं। वे, पानी, ईंधन, चारा इकट्ठा करने की मुख्य ज़िम्मेदारी उठाती हैं साथ ही गाँव के चारागाह, जल स्रोत तथा जंगल जैसे साझे संसाधनों की देखभाल का काम भी करती हैं। पर्यावरण की गिरावट का सबसे ज़्यादा नुकसान औरतें उठाती हैं। यह तथ्य आज शहरी लोगों को भी पता है। एक घड़ा पीने का पानी या लकड़ी और चारे का एक गट्ठर लाने के लिए मीलों पैदल चलती औरतों की तस्वीरें अकाल और सूखे का चित्रण करते जन संचार माध्यमों में छाई रहती हैं। संचार माध्यमों के इस काम की अहमियत और फैलाव राष्ट्रीय आँकड़ों में कहीं नज़र नहीं आता।

औरतें तथा पर्यावरण

पर्यावरण गिरावट का सबसे खराब असर औरतों पर पड़ता है लेकिन वे इसकी निष्क्रिय शिकार नहीं हैं। वे पर्यावरण को नुकसान पहुँचाने वाले विकास नमूनों तथा परियोजनाओं को चुनौती देने में ज़्यादा से ज़्यादा आगे आ रही हैं। वे औरतें, जिन्होंने उत्तर प्रदेश के पहाड़ी जंगलों की कटाई और बार-बार आने वाली बाढ़ तथा जमीन खिसकने के बीच के संबंध को पहचाना, उन्होंने व्यापार के लिए पेड़ों की कटाई पर रोक लगाने के लिए 'चिपको आन्दोलन' शुरू किया। वास्तव में पेड़ के तने और ठेकेदार की बिजली की आरी के बीच अपना शरीर डाल कर इन औरतों ने दिखा दिया कि वे न सिर्फ़ जंगलों की मुख्य उपयोगकर्ता हैं लेकिन उनकी मुख्य रक्षक भी हैं। इसी प्रकार से औरतों ने पारम्परिक फसलों, बीजों तथा तकनीकों पर समुदायों के अधिकार की सुरक्षा के लिए चलाए जाने वाले अभियान में भी अगुवाई की है। अनेक इलाकों में औरतों के समूहों ने जल, जंगल और सामुदायिक चारागाहों के बचाव और देखभाल की पारम्परिक व्यवस्थाओं को सफलतापूर्वक फिर से लागू किया है और मज़बूत बनाया है।

औरतें कितना कमाती हैं?

कानूनी तौर पर तो मौजूदा न्यूनतम मज़दूरी कानून ही यह सुनिश्चित कराने के लिए काफ़ी होना चाहिए कि मालिक, कामगारों का शोषण न कर सकें और मजदूरी देने में औरत व मर्द के बीच कोई भेदभाव न हो, लेकिन सचाई बिल्कुल अलग है। औरतों की मज़दूरी औसतन मर्दों से क़रीब 30% कम होती है।

कृषि तथा घर से किए जाने वाले कामों जैसे क्षेत्रों में, न्यूनतम मज़दूरी कानून लागू करने के लिए कोई ढाँचा नहीं है जहाँ अधिकतर कामगार, औरतें हैं। भारत में एक भी राज्य ऐसा नहीं है जहाँ औरतों तथा मर्दों को समान काम के लिए समान मज़दूरी मिलती हो। आमतौर पर इसकी सफ़ाई में कहा जाता है कि औरतें तथा मर्द अलग-अलग तरह के काम करते हैं और औरतों के कामों को प्रायः ''हल्का काम'' या ''बग़ैर हुनर मंदी'' का काम कहा जाता है। मिसाल के लिए कृषि क्षेत्र में खरपतवार निकालने का कमरतोड़ काम औरतों के लिए सुरक्षित है जिसकी मज़दूरी सबसे कम है। दूसरी ओर धान रोपने का बेहद हुनरमंद काम भी औरतों के लिए सुरक्षित है लेकिन किसी राज्य में इसके लिए ऊँची मज़दूरी नहीं मिलती।

घर पर रह कर काम करने वाली औरतें सबसे कम कमाती हैं। मिसाल के लिए 'सेवा' द्वारा 14 धंधों का अध्ययन करने से मालूम हुआ कि 85% औरतें सरकारी तौर पर घोषित निर्धनता स्तर आमदनी का भी सिर्फ़ 50% कमा रही थीं। घर से काम करने वाली औरतों को बच्चों की देखभाल, स्वास्थ्य बीमा या वृद्धावस्था पैंशन जैसे सामाजिक सुरक्षा लाभ भी नहीं मिलते हैं।

15 से 59 आयु वर्ग के नियमित मज़दूरी पाने वाले कामगारों की औसत प्रतिदिन आय 1999-2000

(रूपयों से दशमलव हटा दिया गया है)

क्षेत्र	देहाती		शहरी	
	मर्द	औरतें	मर्द	औरतें
कृषि कार्य	70	49	154	65
खदान कार्य	147	46	265	154
निर्माण (15-27)	88	34	103	55
निर्माण (23-37)	100	50	168	125
बिजली गैस और पानी	197	220	249	212
इमारती निर्माण कार्य	104	110	133	140
व्यापार	65	60	98	130
यातायात तथा भंडारण आदि	113	92	160	191
सेवाएँ (65-74)	161	93	262	273
सेवाएँ (75-93)	178	173	219	169
सभी	127	114	170	140

(स्रोत : भारत सरकार 2001 एन एस एस रिपोर्ट नं 458)

कृषि क्षेत्र में लागत मूल्य कम करने के लिए भूमिपतियों द्वारा औरतों के सस्ते श्रम का इस्तेमाल, एक महत्वपूर्ण रणनीति बन गई है। कृषि मजदूर यूनियन द्वारा आन्ध्र प्रदेश के पाँच जिलों के सर्वेक्षण से मालूम हुआ कि धान, कपास, मिर्च, हल्दी, तम्बाकू तथा फूलों की खेती के लिए मर्दों से ज़्यादा औरतों को रखा जाता है। मालिकों ने बताया कि वे औरतों को रखना इसलिए पसंद करते हैं क्योंकि वे ज़्यादा मेहनती होती है, बगैर छुट्टी लिए लगातार काम करती रहती हैं तथा मर्दों की तुलना में 30-36% कम मज़दूरी पर मिल जाती हैं।

(स्रोतः राष्ट्रीय श्रम केन्द्र, 1999)

वस्तु निर्माण क्षेत्र में, जहाँ कानून लागू करना आसान होना चाहिए, औरतों के साथ सबसे अधिक भेदभाव होता हैं। 1999-2000 में इस क्षेत्र में औरतों की मज़दूरी प्रायः पुरुषों की मज़दूरी के आधे से भी कम थी।

कुछ हद तक इसका कारण यह है कि इस क्षेत्र में ठेकेदारी पर काम होता है जिसमें औरतें घर पर रह कर नग के हिसाब से काम करती हैं। चूंकि इस प्रकार की उत्पादन श्रृंखला में बहुत से ठेकेदार जुड़े होते हैं इसलिए मालिक और मज़दूर का कोई स्पष्ट रिश्ता नहीं होता और मज़दूरी प्रायः न्यूनतम से भी काफ़ी कम होती है।

अनेक वस्तु निर्माण उद्योगों में अब श्रम शक्ति को लचीला रखने का ढर्रा चल पड़ा है अर्थात पूरे समय काम करने वाले स्थाई मज़दूर रखने की जगह पर ठेके पर काम करवाना। विडम्बना यह है कि इस प्रकार

से उद्योगों के पुनर्गठन के फलस्वरूप जिन स्थाई, सुरक्षित नौकरी वाले तथा न्यूनतम मज़दूरी से कहीं ज़्यादा वेतन पाने वाले कामगारों को निकाला जा रहा है, उनमें औरतों की संख्या सबसे अधिक है। ये औरतें या तो बेरोज़गार हो रहीं हैं या ''बेसहारा कामगार'' बन रही हैं यानि दिहाड़ी की, असुरक्षित कम मज़दूरी पाने वाली। इस श्रेणी में कुआँरी, तलाकशुदा तथा विधवा औरतों सहित सबसे अधिक संख्या एकल औरतों की है।

1997 में सार्वजनिक क्षेत्र के 27 मध्यम तथा बड़े उद्योगों के एक अध्ययन से मालूम हुआ कि पिछले दशक से ठेके पर काम करवाने का चलन बहुत अधिक बढ़ा है तथा नियमित की तुलना में ठेके के कामगारों का अनुपात 20-40% तक है। अन्तर्राष्ट्रीय हवाई अड्डों पर ठेके के कामगारों की संख्या नियमित कामगारों से दुगनी है। ठेके के कामगारों की मज़दूरी नियमित कामगारों से 40-70% तक कम है तथा नौकरी के दौरान या बाद में कुछ फायदे मिलते भी हैं तो बहुत थोड़े।

(स्रोतः राष्ट्रीय श्रम केन्द्र, 1999)

असंगठित को संगठित करना

राष्ट्रीय स्तर पर उभर रहे कुछ गठबंधन, आर्थिक उदारवाद के चलते अनौपचारिक क्षेत्र के कामगारों पर पड़ने वाले प्रभाव की तरफ़ ध्यान दिला कर, नीतियों में बदलाव की पैरवी कर रहे हैं। राष्ट्रीय श्रम केन्द्र, स्वः रोजगारी औरतों, इमारती निर्माण कामगारों, मछुआरों, घरेलू नौकरानियों, जंगलात तथा कृषि कामगारों सहित अनेक क्षेत्रों में काम करने वाले संगठनों का संघ है। यह मंच कामगारों के सबसे हाशिए बंद समूहों की सामूहिक आवाज़ का प्रतिनिधित्व करता है। राष्ट्रीय श्रम केंद्र सोची समझी नीति के तहत कामगारों के दर्जे की तरफ़ ध्यान न देते हुए उनके साझे हितों को मज़बूत करने की कोशिश कर रहा है।

औरतों के लिए उनके काम की जगहें कितनी सुरक्षित हैं?

अधिकांश भारतीय औरतों के लिए उनका घर ही काम की जगह है। जगह की कमी, रोशनी और हवा की कमी, संडास की सुविधा का अभाव आदि के कारण शहरी और देहाती क्षेत्रों में गरीब औरतों के घर, काम करने के लिए अच्छी जगहें नहीं हैं। इसके अलावा ज़्यादातर औरतों के घर उनके नाम पर नहीं होने की वजह से वे हमेशा पति, ससुराल वालों, मकान मालिकों या नगरपालिका अधिकारियों की दया पर रहती हैं। ऐसी औरतों के पेशे के कारण स्वास्थ्य पर पड़ने वाले असर और उनकी सुरक्षा से जुड़े आँकड़े लगभग नहीं हैं।

स्वः रोजगारी औरतों तथा अनौपचारिक क्षेत्र की औरतों के राष्ट्रीय आयोग ने 1988 में विभिन्न क्षेत्रों में औरतों के पेशेगत स्वास्थ्य ख़तरों का विस्तार से अध्ययन किया था। तब से अब तक के हालात में बहुत कम बदलाव आया है। अनेक पेशे, जिनमें औरतों की बहुतायत है अपने आप में ख़तरनाक हैं। ठप्पे की छपाई, स्क्रीन छपाई, रंगाई, बीड़ी बनाना, कचरा ठिकाने लगाना, कूड़ा बीनना, सिर पर बोझ उठाना जैसे पेशों में, वे विषैले रसायनों या रोग उत्पादक कीटाणुओं के सम्पर्क में आती हैं।
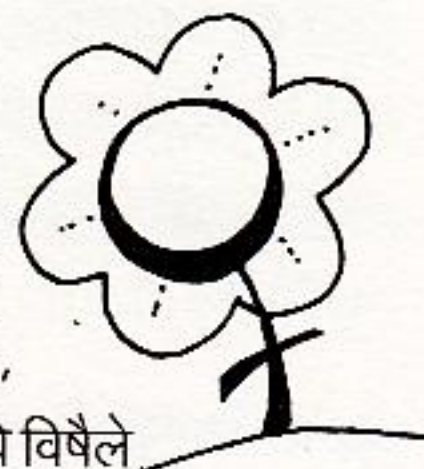
- जो औरतें लकड़ी की आग पर खाना पकाती हैं वे औद्योगिक श्रमिक से ज़्यादा प्रदूषण झेलती हैं।
- महाराष्ट्र में जलने के मामलों के अध्ययन से मालूम हुआ कि लगभग 55% मामले औरतों के थे जिनके साथ खाना पकाते हुए दुर्घटनाएँ घटी।
- हरियाणा में एक अध्ययन से मालूम हुआ कि औरतों को लगी सभी चोटों में से 26% घर पर हुई दुर्घटनाओं के फलस्वरूप थीं तथा 55% का संबंध घर के कामकाज से था।

(स्रोतः अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन 1999)

यौन उत्पीड़न : एक सर्वव्यापी ख़तरा

घर से बाहर काम करने वाली औरतों के लिए सिर्फ़ दुर्घटनाओं का ही ख़तरा नहीं है। 1990 में औरतों के खिलाफ़ होने वाले कुल दर्ज अपराधों में से आधे का संबंध काम की जगह पर यौन उत्पीड़न तथा छेड़छाड़ से था।

1997 में भारत के उच्चतम न्यायालय ने एक मील के पत्थर फ़ैसले में काम की जगहों पर औरतों के साथ होने वाले यौन उत्पीड़न के विरूद्ध एक कड़ा रूख अपनाया।

यौन उत्पीड़न की परिभाषा के अन्तर्गत ''शारीरिक सम्पर्क या प्रस्ताव, यौन कृपा की माँग या प्रार्थना, यौन अर्थ वाली टिप्पणियाँ, अश्लील सामग्री दिखाना तथा अन्य कोई यौन प्रकृति का शारीरिक, शाब्दिक या ग़ैर शाब्दिक अप्रिय व्यवहार सहित सभी तरह के (सीधे अथवा आशय से) अवांछनीय लिंग निर्धारित व्यवहारों'' को शामिल किया गया।

शिकायतों की रोकथाम तथा उनकी क्षतिपूर्ति के लिए न्यायालय ने बड़े विस्तार से दिशा निर्देश दिए। तत्पश्चात राष्ट्रीय महिला आयोग ने उन दिशा निर्देशों को स्पष्ट करते हुए संगठन के मालकों के लिए व्यवहार संहिता तैयार की।
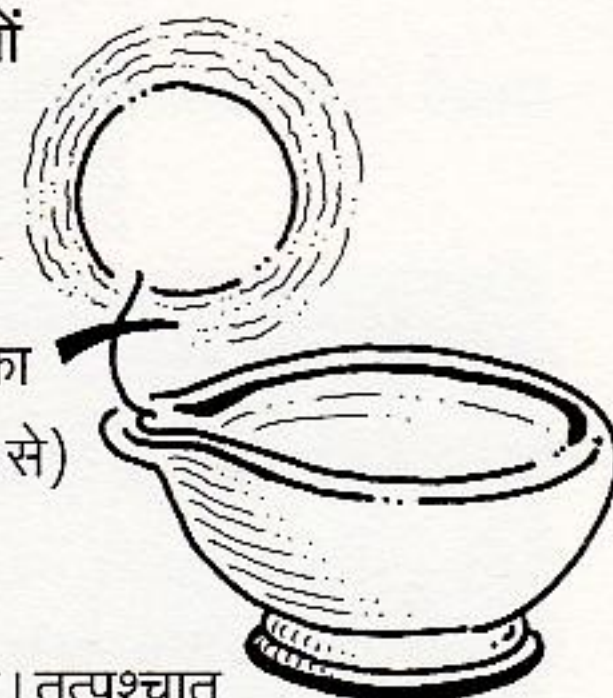
जुलाई 1998 में राष्ट्रीय महिला आयोग के लिए एक सर्वेक्षण किया गया जिसमें संगठित तथा असंगठित क्षेत्र की 1200 औरतों को शामिल किया गया था। उस सर्वेक्षण से पता चला कि लगभग 50% औरतों ने काम के स्थान पर जेंडर भेदभाव या शारीरिक व मानसिक उत्पीड़न का अनुभव किया था। फिर भी 85% औरतों ने उच्चतम न्यायालय के आदेश के बारे में कभी नहीं सुना था। केवल 11% को मालूम था कि यौन उत्पीड़न के मामले में वे कानून की मदद ले सकती हैं तथा यौन उत्पीड़न, कानूनन अपराध है।

(स्रोतः राष्ट्रीय महिला आयोग 1998)

राष्ट्रीय महिला आयोग के सर्वेक्षण ने पाया कि असंगठित क्षेत्र की औरतों को संगठित क्षेत्र की औरतों की तुलना में यौन उत्पीड़न का अधिक ख़तरा है। सर्वेक्षण में शामिल औरतों में से 32% ने कहा कि उनके साथ वेतन, छुट्टी, तरक्की, काम का बंटवारा और काम के घंटों में भेदभाव किया जाता है।

प्रशासनिक सेवा में काम करने वाली औरतों के एक सर्वेक्षण से पता चला कि उनके अफ़सर होने के बावजूद महिला प्रशासनिक अधिकारी भी इस तरह की समस्याओं से आज़ाद नहीं हैं। सर्वेक्षण में शामिल कुल महिला अफसरों में से 1/5 औरतों ने बताया कि उन्हें उनकी नौकरी के दौरान किसी न किसी समय औरत होने की वजह से तंग किया गया था। जिन महिला अफसरों ने अपने वरिष्ठ अफसरों द्वारा किए जाने वाले अनचाहे यौन प्रस्तावों का विरोध किया उन्हें तरह-तरह से परेशान किया गया- उनके बारे में वार्षिक रिपोर्ट खराब कर दी गई, खराब जगहों पर तबादला कर दिया, उनके बारे में अफवाहें फैलाई गई। इस प्रकार से, तंग किए जाने की रिपोर्ट करने से महिला अफ़सर प्रायः हिचकिचाती हैं। उनका विचार है कि एक वरिष्ठ अफसर की बात के सामने उनकी बात कौन मानेगा या उनकी शिकायत पर लोग हंसेंगे या उसे गंभीरता से नहीं लेंगे। इस तरह से परेशान करने वाले लोग पद और दर्जे में प्रायः बड़े होने के अलावा उन सब में मज़बूत आपसी एकता होती है परिणामस्वरूप उनके सहयोगी उस मामले को निष्पक्षता से नहीं परखते। प्रायः यह मान लिया जाता है कि ''जरूर औरत की ग़लती होगी।''
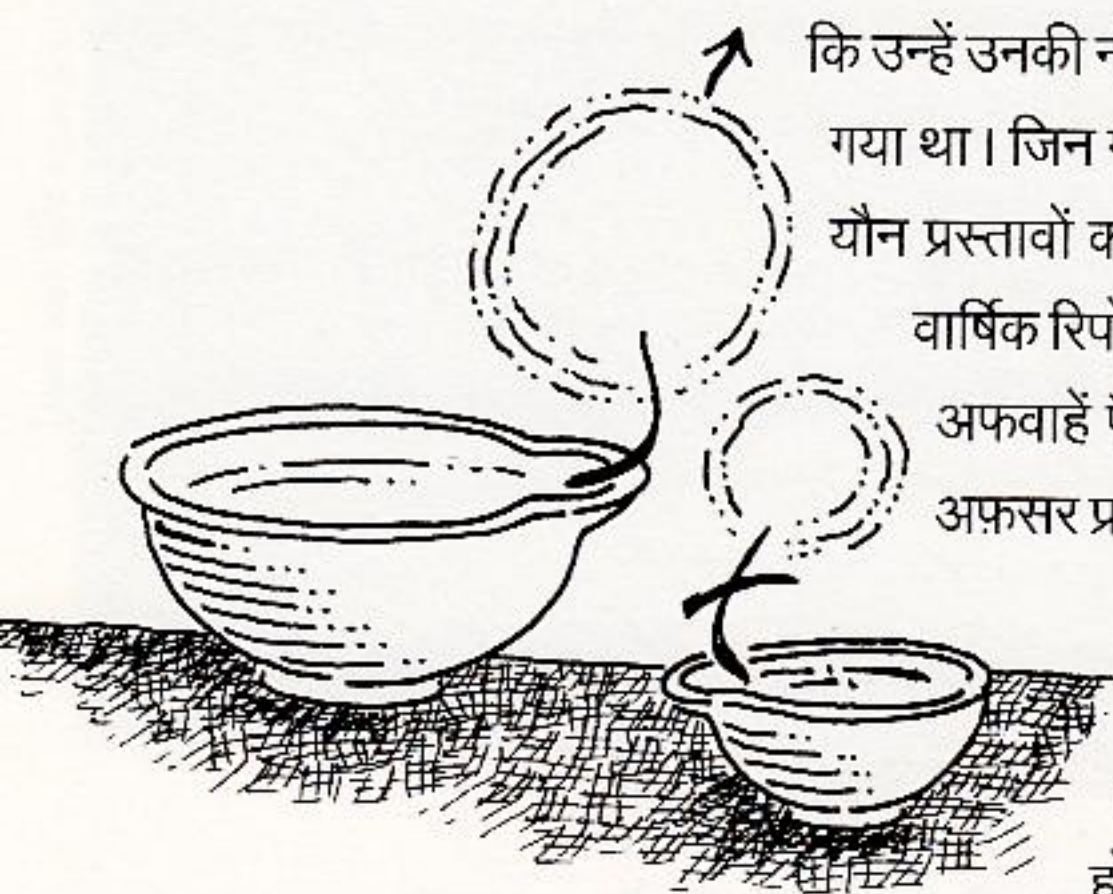
उच्चतम न्यायालय के दिशा निर्देश

काम के स्थान पर यौन उत्पीड़न संबंधी उच्च न्यायालय का आदेश, हर संगठन में यौन उत्पीड़न के मामलों की रोकथाम तथा क्षतिपूर्ति के लिए एक तंत्र स्थापित करने को अनिवार्य बनाता है।

आज तीन साल बाद भी सिर्फ़ मुट्ठी भर संगठनों ने इस बारे में नीतियाँ बनाई है या क्षतिपूर्ति तंत्र स्थापित किया है। यहाँ तक कि राष्ट्रीय ट्रेड यूनियनों ने भी अपने मालिकों के साथ समझौते के समय इस मुद्दे को नजरअंदाज कर दिया है।

कुछ मामलों में जहाँ यौन उत्पीड़न की शिकायत पर कुछ कार्रवाई की भी गई है तो अत्याचार कर्त्ता ही ''न्याय'' माँगने न्यायालय पहुँच गए हैं। दिल्ली सरकार के एक वरिष्ठ अफ़सर का मामला इसका उदाहरण है। एक कनिष्ठ लिपिक पर यौन अत्याचार के मामले में उस अफसर को नौकरी से निकाल दिया गया था। उसने दिल्ली उच्च न्यायालय के सामने अपने आपको ''पीड़ित'' के रूप में पेश किया और उसे दोबारा नौकरी पर रख लिया गया। न्यायालय का कहना था कि उसे नौकरी से निकालना उचित नहीं है क्योंकि उसने औरत को उत्पीड़ित करने की कोशिश तो की थी लेकिन सफल नहीं हुआ था।

उच्चतम न्यायालय द्वारा फिर दख़ल देने पर ही उस फ़ैसले को बदल कर जेंडर न्याय के सिद्धान्तों को बरकरार रखा जा सका।
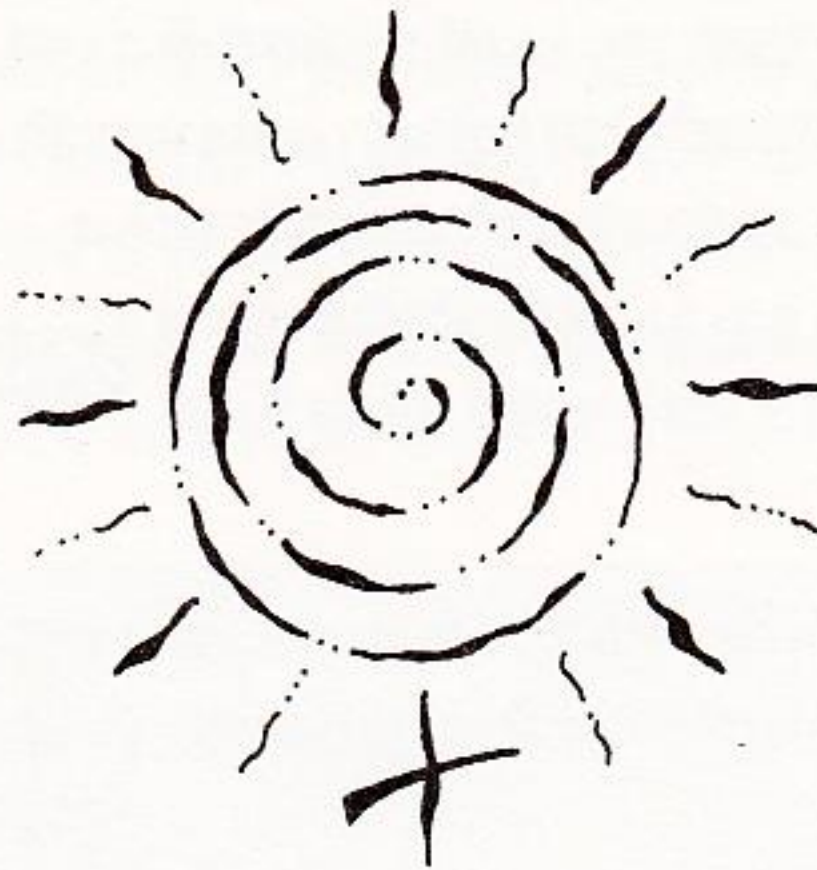
निर्णय लेने की आज़ादी

सार्वजनिक निर्णयों में हिस्सा ले पाने के, हर नागरिक के अधिकार को स्वीकार करना, किसी भी लोकतंत्र का बुनियादी घटक है। यह तभी प्रभावी हो सकता है जब समाज के सभी सदस्यों की ज़रूरतों और हितों का आदर और प्रतिनिधित्व हो। यदि किसी एक समूह को लगातार निर्णय प्रक्रिया से बाहर रखा जाता है तो यह लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता। यदि कुछ लोग उस समूह की तरफ़ से बोलने का दावा करते हैं तब भी ज़रूरी नहीं है कि सामाजिक न्याय हो, जैसा कि दुनियाँ के अधिकांश हिस्सों की औरतों व बच्चों की स्थिति से ज़ाहिर होता है।

भारतीय औरतें बचपन से ही शुरू होने वाली अनेक प्रक्रियाओं के द्वारा निर्णय और नेतृत्व के दायरे के बाहर ही जगह पातीं हैं। लड़कों के विपरीत लड़कियों को निष्कृय भूमिका निबाहने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है तथा उन्हें परिवार के भीतर और बाहर निर्णय लेने या नेतृत्व का गुण विकसित करने के मौके कम ही दिए जाते हैं। इसके स्थान पर उन्हें दूसरों द्वारा लिए गए निर्णय स्वीकार करना सिखाया जाता है। माता-पिता, अध्यापक, भाई आदि उनकी ओर से निर्णय लेते हैं। परिणामस्वरूप औरतों में, सार्वजनिक क्षेत्र में सफलता पूर्वक काम करने के लिए ज़रूरी हुनर तथा आत्म विश्वास की कमी होती है।

क्या भारतीय औरतें निजी निर्णयों में हिस्सा लेती हैं?

परिवार के भीतर उनके जीवन को प्रभावित करने वाले फैसलों में भी औरतों की बहुत कम भागीदारी होती है। अधिकांश भारतीय औरतों की शादी भी उनकी अपनी मर्ज़ी और चुनाव से नहीं होती। सिर्फ़ धनी परिवारों की कुछ शिक्षित लड़कियों की, यह तय करने में कोई भूमिका होती है कि वे कब और किससे शादी करेंगी। सांस्कृतिक रूप से शादी का अर्थ है बचपन की समाप्ति लेकिन सच्चाई यह है कि लाखों भारतीय औरतों की जब शादी होती है तो उस समय वे ख़ुद बच्ची होती है, कानूनी तथा जैविकीय दोनों रूपों से।

कानूनी रूप से लड़कियों की शादी की न्यूनतम आयु 18 वर्ष तथा लड़कों की 21 वर्ष है लेकिन इस कानून का अधिक इस्तेमाल इसे तोड़ने में होता है। ग्रामीण भारत की 60% के क़रीब औरतों की शादी 18 वर्ष से काफ़ी पहले हो जाती है जबकि वे किशोरावस्था में होती हैं और यह बात 20-24 वर्ष की औरतों के संबंध में सच है न कि ''पुरानी पीढ़ी'' के संबंध में जिनके समय में कम उम्र में शादी होना आम बात थी।

जन्म और शादी के अनिवार्य पंजीकरण के कानूनी प्रावधान को भी शायद ही कभी लागू किया जाता है इसी कारण बाल विवाह पर लगी रोक की परवाह किए बग़ैर लोग कम उम्र में बच्चों की शादियाँ कर देते हैं ।
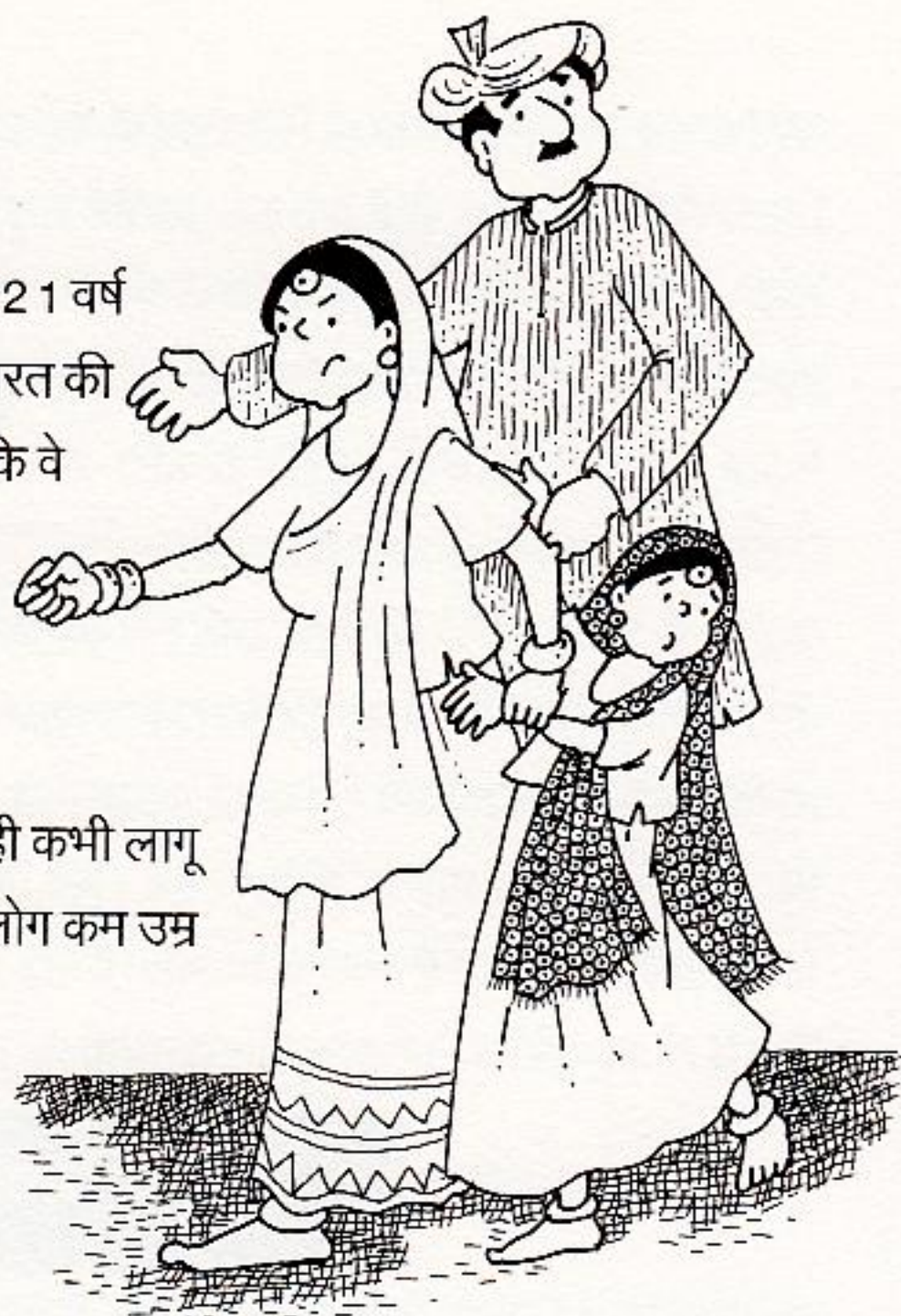
औरतों की किस उम्र में शादी होती है?
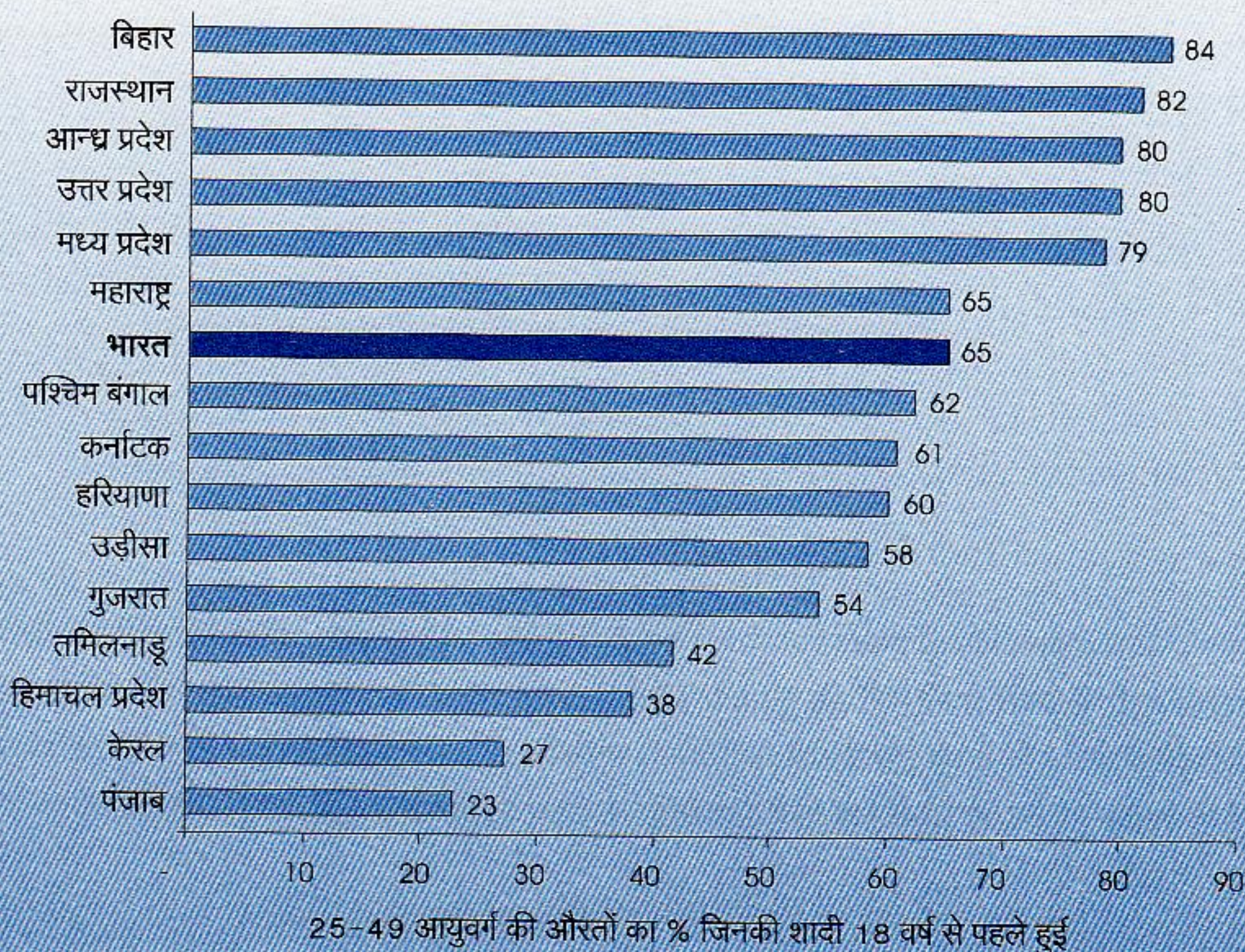
(स्रोतः जनसंख्या विज्ञान का अन्तर्राष्ट्रीय संस्थान 2000, राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण 2, 1998-99)

शादी के बाद पारिवारिक मामलों में ज़्यादा स्वायत्तता मिलने के स्थान पर, औरतों के सिर्फ़ नियंत्रक बदल जाते हैं उनके जीवन पर उसी प्रकार और उतना ही नियंत्रण अब भी बना रहता है जितना माता-पिता के घर में एक बच्ची के रूप में था। जब लड़की वयस्क हो जाती है तब भी उसे अपने शरीर तथा अपनी यौनिकता के बारे में बहुत कम जानकारी या उस पर बहुत कम नियंत्रण होता है। उसे घर के रोजमर्रा के कामों से लाद दिया जाता है कि उसके पास कुछ सीखने या प्रयोग करने का वक्त ही नहीं होता। उसकी अपने बारे में राय और आत्म छवि इतनी गिरी हुई होती है कि वह अपने हालात को बदलने के लिए कोई पहल नहीं कर पाती। इसके साथ ही साक्षरता तथा बाज़ार में बेचे जा सकने वाले हुनरों की कमी की वजह से उसके रोज़गार पाने के अवसर भी सीमित हो जाते हैं। इस प्रकार उसका निचला दर्जा जारी रहता है तथा वह अपनी अगली पीढ़ी को भी वही दर्जा दे जाती है।

	शादी के समय औसत आयु (वर्ष 1998-99)	13-19 वर्ष की लड़कियों का % जो माता है (वर्ष 1992-93)	6-17 वर्ष की लड़कियों का % जो स्कूल जा रही है। (1998-99)
पंजाब	20.0	64.4	84.9
महाराष्ट्र	16.4	68.1	81.8
उत्तर प्रदेश	15.4	49.4	69.9
बिहार	14.9	48.2	59.6
केरल	20.2	59.2	90.9
भारत	**16.4**	**57.7**	**72.1**

(स्रोतः जनसंख्या विज्ञान का अन्तर्राष्ट्रीय संस्थान 1995 तथा 2000, राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण 1 व 2, 1992-93 तथा 1998-99)

शादी होने से किशोरियों के लिए कम उम्र में माँ बनने का ख़तरा भी हो जाता है जबकि वे शारीरिक और जैविकीय रूप से मातृत्व के लिए तैयार भी नहीं होती हैं। चूंकि उनके पास अपनी प्रजनन शक्ति पर नियंत्रण रखने या गर्भ रोकने की जानकारी नहीं होती, काफ़ी बड़ी संख्या में औरतें शादी के पहले साल में ही माता बन जाती हैं। लगभग 60% शादीशुदा औरतें 19 वर्ष की होने से काफ़ी पहले ही माता बन जाती है, यह बात केरल जैसे प्रगतिशील राज्य के लिए भी सच है। कई समुदायों में बेटे की माँ बनना सामाजिक रूप से बहुत फ़ायदेमंद होता है इस वजह से भी शायद लड़कियाँ कम उम्र में माँ बन जाती हैं।

क्या शादीशुदा औरतें व्यक्तिगत चुनाव कर सकती हैं?

स्वयं अपने शरीर पर और यौनिकता पर नियंत्रण होना शायद व्यक्तिगत आज़ादी का सबसे बुनियादी घटक है। गर्भनिरोधकों का इस्तेमाल करने वाले शादीशुदा दम्पत्तियों के आँकड़ों को देखने से यह अन्दाज़ा होता है कि इस देश की अधिकांश शादीशुदा औरतों के पास सबसे बुनियादी चुनाव करने की ताक़त भी नहीं है जैसे क्या वे बच्चा चाहती हैं और कब चाहती हैं।

भारतीय संविधान, हर व्यक्ति द्वारा अपने ऊपर तथा अपने जीवन की परिस्थितियों पर नियंत्रण के इस्तेमाल के हक़ का समर्थन करता है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, बोलने की तथा अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, आने जाने तथा संगठित होने की स्वतन्त्रता, रहने के स्थान व रोज़गार की स्वतन्त्रता के संवैधानिक अधिकारों का अर्थ है

कि भारतीय औरतों के पास भी मर्दों के बराबर फ़ैसला लेने का अधिकार है कि वे अपना जीवन कैसे जीना चाहती हैं, वे क्या करना चाहती हैं और क्या बनना चाहती हैं।

परंतु दरअसल में ये अधिकार किस प्रकार का व्यवहारिक रूप लेते हैं?

औरतों की स्वायत्तता

	किसी निर्णय से जुड़ाव नहीं का %	जो निम्न निर्णयों से जुड़ी है का %				जिन्हें इजाज़त की जरूरत नहीं है का %	
		खाना पकाना	अपनी स्वास्थ्य देखभाल	गहने आदि खरीदने के लिए	माता-पिता भाई-बहनों के साथ रहने के लिए	बाजार जाना	मित्रों और रिश्तेदारों के यहाँ
भारत	**9**	**85**	**52**	**53**	**48**	**32**	**24**
उत्तर प्रदेश	16	78	45	41	36	17	12
बिहार	14	82	48	43	44	22	21
राजस्थान	13	82	41	43	39	19	17
मध्य प्रदेश	13	82	37	44	38	21	20
जम्मू-कश्मीर	12	80	56	58	49	12	8
कर्नाटक	8	88	49	47	45	43	34
पश्चिम बंगाल	8	87	45	48	47	18	14
आन्ध्र प्रदेश	7	86	56	61	58	20	15
केरल	7	81	73	63	60	48	38
दिल्ली	5	83	69	59	47	52	34
आसाम	5	88	65	54	45	13	14
गुजरात	4	90	71	74	65	55	51
गोआ	4	90	62	63	72	67	59
हरियाणा	3	94	67	78	65	37	21
सिक्किम	3	92	60	58	57	38	42
तामिलनाडू	2	92	61	67	62	79	56
पंजाब	1	97	79	75	68	50	28
हिमाचल प्रदेश	1	95	81	93	91	33	31

(स्रोत: जनसंख्या विज्ञान का अन्तर्राष्ट्रीय संस्थान, 2000, राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण 2, 1998-99)

(टिप्पणी : आँकड़ों के दशमलव हटा दिए गए हैं)

केवल कुछ राज्यों में ही औरतों को उनके व्यक्तिगत जीवन में फ़ैसले लेने की थोड़ी बहुत स्वायत्तता हासिल है। ज़्यादातर मामलों में औरतों को रोज़मर्रा की छोटी-छोटी बातों के फ़ैसलों से भी अलग रखा जाता है। उत्तर प्रदेश में लगभग 90% तथा बिहार, मध्य प्रदेश, हरियाणा और आन्ध्र प्रदेश में 80% से अधिक औरतों को अपनी किसी सहेली या रिश्तेदार से मिलने के लिए घर से बाहर कदम रखने से पहले इजाज़त लेनी पड़ती है। लगभग उतनी ही औरतों को बाज़ार जाने तक के लिए इजाज़त लेनी पड़ती है। मध्य प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश में सर्वेक्षण में शामिल कुल औरतों में से आधी की सिर्फ़ कुछ पैसों तक पहुँच थी।

यहाँ तक कि केरल में, जहाँ समझा जाता है कि औरतों को सबसे ज़्यादा आज़ादी है 50% से ज़्यादा औरतों ने बताया कि उन्हें बाज़ार जाने या अपने मित्रों व रिश्तेदारों के यहाँ जाने के लिए इजाज़त लेनी पड़ती है। बिहार, उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश में 15% औरतों ने बताया कि आज तक उन्होंने कभी किसी तरह का फ़ैसला खुद नहीं किया है।

(स्रोत: जनसंख्या विज्ञान का अन्तर्राष्ट्रीय संस्थान 2000, राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण 2, 1998-99)
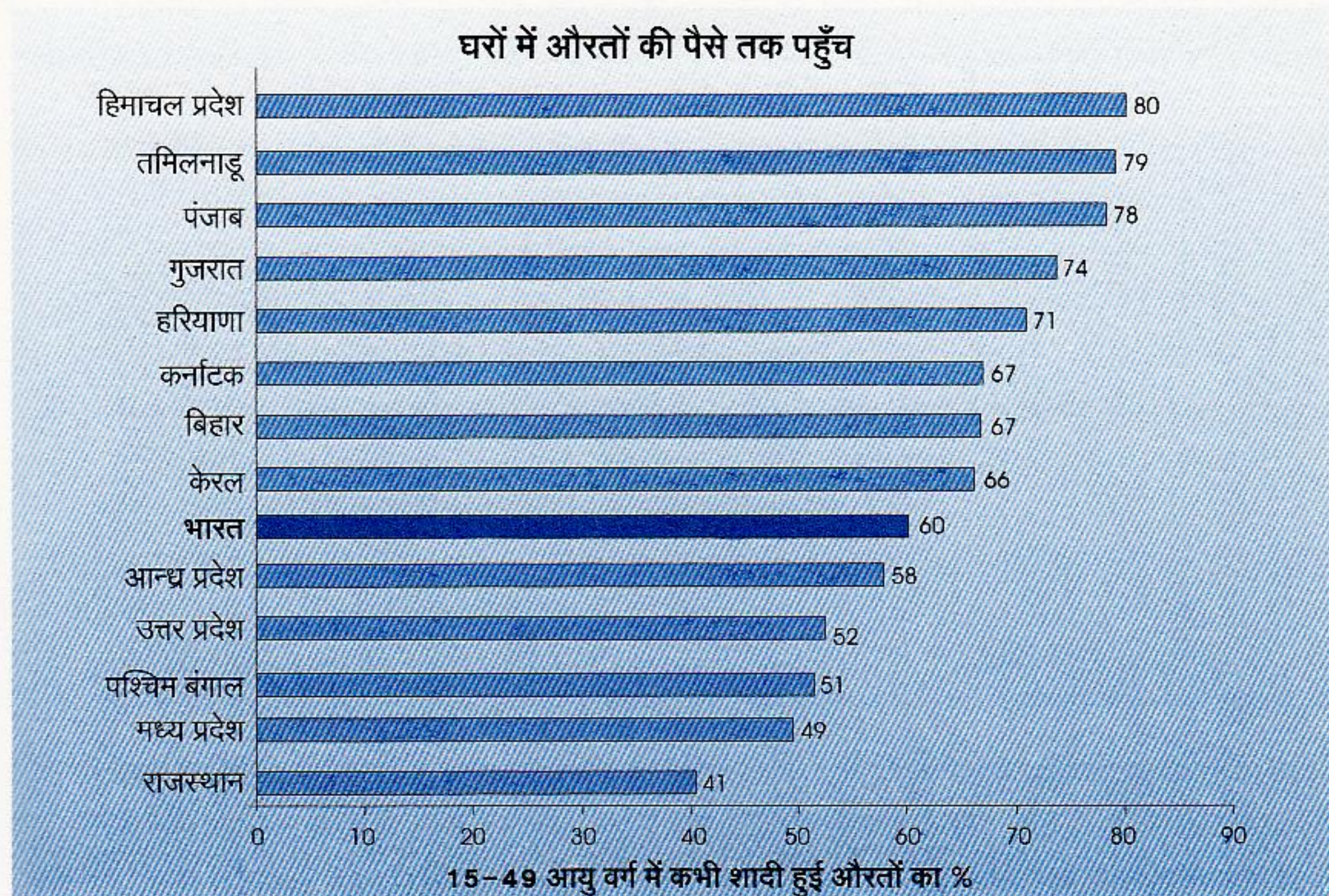
यह जान कर तसल्ली हुई कि अधिकांश भारतीय औरतों को यह फ़ैसला करने की आज़ादी है कि वे क्या पकाएँगी लकिन इस पारम्परिक महिला क्षेत्र में भी सभी को यह आज़ादी हासिल नहीं है। मिसाल के लिए उत्तर प्रदेश की क़रीब एक तिहाई औरतें खाने के बारे में भी खुद फ़ैसला नहीं कर सकती हैं।

हो सकता है ऊपर दिए गया आँकड़ाँ पहली नज़र में हल्की-फुल्की बात लगें लेकिन ध्यान से सोचने पर इसके गंभीर परिणाम दिखाई देते हैं। जो औरत यह तय करने का हक़ नहीं रखती कि वह क्या पकाए और कितना पकाए, उसका खुद अपनी खुराक़ पर नियंत्रण क्या होगा। वैसे भी वह सबसे अंत में खाती है इसलिए संभावना है कि उसके लिए बहुत कम बचता होगा। बीमारी, गर्भावस्था और स्तनपान कराने के दौरान उसके शरीर की विशेष ज़रूरतों को न कोई समझता है, न ध्यान देता है। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और आन्ध्र प्रदेश की 50% औरतें अपने स्वास्थ्य की देखरेख के फ़ैसले भी खुद नहीं कर सकती हैं। इन ग़ैर आज़ादियों तथा औरतों के गिरे हुए स्वास्थ्य तथा स्वास्थ्य व्यवस्था तक उनकी पहुँच की कमी के बीच आपसी जुड़ाव देखना कोई मुश्किल काम नहीं है।

क्या औरतें सार्वजनिक निर्णयों में हिस्सा लेती हैं?

भारत में लोकतंत्र का गौरवपूर्ण इतिहास है। आज़ादी पाने के समय से भारत में अब तक तेरह बार आम चुनाव हो चुके हैं। औरतों को, आज़ादी पाने के समय ही वोट का अधिकार मिल गया था तथा इन पिछले दशकों में वोट देने वाली औरतों की संख्या में लगातार वृद्धि हुई है। हालांकि मर्दों की तुलना में कम औरतें वोट डालती हैं लेकिन दोनों के बीच का फ़ासला पिछले चार दशकों में 16% से घट कर 10% से भी कम रह गया है। 1999 के लोकसभा चुनावों में 58% महिला वोटरों ने अपने हक़ का इस्तेमाल किया।
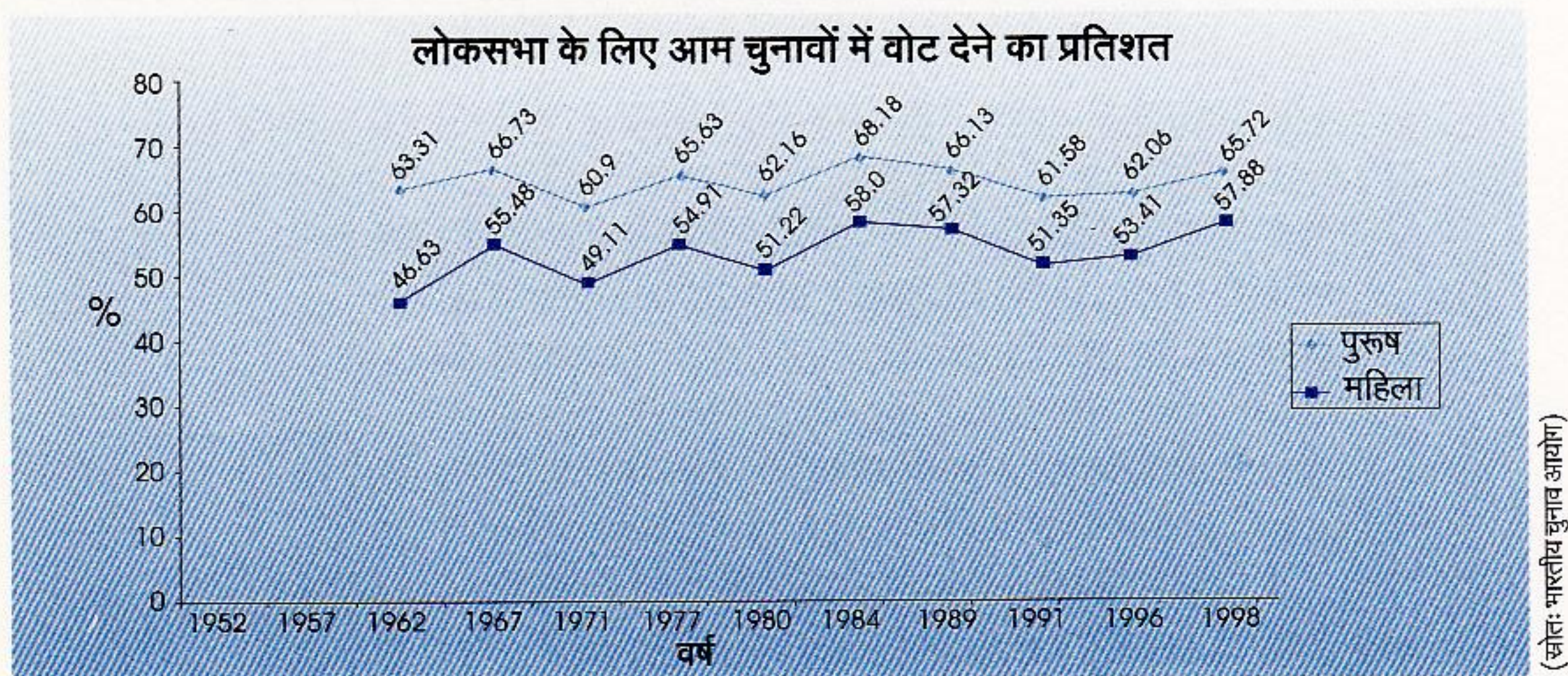
भारत के स्वतन्त्रता संघर्ष में बड़ी तादाद में औरतों ने हिस्सा लिया था जिनमें से अनेक ने अगुवाई भी की, परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से संसद में औरतों की भागीदारी लगातार घट रही है। इस गिरावट की सफ़ाई के रूप जो कारण सबसे अधिक सुनने में आता है वह हैं सार्वजनिक जीवन में बढ़ रही हिंसा।

लोकसभा में औरतों की उपस्थिति

	कुल सीटें	महिला सांसद	महिला सांसदों का %
1952	499	22	4.4
1957	500	27	5.4
1962	503	34	6.8
1967	523	31	5.9
1971	521	22	4.2
1977	544	19	3.3
1980	544	28	5.2
1984	544	44	8.1
1989	517	27	5.2
1991	544	39	7.2
1996	543	39	7.2
1998	543	43	7.9
औसत	**527**	**31**	**5.9**

(स्रोत : भारतीय चुनाव आयोग)

लोकसभा में औरतों का प्रतिनिधित्व बुनियादी तौर पर 1984 के 8% के बाद से जहाँ का तहाँ रहा है। यह गतिहीनता राज्य विधान सभाओं में और भी ज़्यादा दिखाई देती है।

राज्य विधान सभाओं में औरतों का प्रतिनिधित्व

(महिला विधायकों का %)

	1952	1960-65	1970-75	1979-83	1993-97	1998-99
बिहार	3.6	7.9	3.8	3.7	3.4	-
उत्तर प्रदेश	1.2	4.4	5.9	5.6	4.0	-
राजस्थान	0.0	4.5	7.1	5.0	4.5	7.0
केरल	0.0	3.9	1.5	3.2	9.3	-
पश्चिम बंगाल	0.8	4.8	1.6	2.4	6.8	-
आन्ध्र प्रदेश	2.9	3.3	9.1	4.1	2.7	9.5

(स्रोत : भारतीय चुनाव आयोग)

यदि राजस्थान और केरल की साक्षरता दरों को देखें जो देश में क्रमशः सबसे कम और सबसे अधिक है तो ऐसा लगता है कि राजनीति में भागीदारी का साक्षरता दर से कोई सीधा संबंध नहीं है। औरतों की सम्पूर्ण सामाजिक स्थितियों का भी प्रभाव पड़ता दिखाई नहीं देता है। केरल और मणिपुर दोनों राज्यों में महिला समानता की सशक्त सामाजिक परम्परा के बावजूद वहाँ विधान सभाओं में 10% से कम औरतें हैं।

हालांकि ज़्यादातर राष्ट्रीय स्तर के राजनैतिक दलों ने अपने घोषणा पत्रों में संसद में महिलाओं के आरक्षण का समर्थन किया है लेकिन खुद बहुत कम महिला उम्मीदवार चुनाव में उतारते हैं।

1999 के चुनाव में कुल 4000 उम्मीदवारों में से सिर्फ़ 280 (6.5%) औरतें थीं। अनेक मामलों में महिला उम्मीदवारों की यह भी शिकायत थी कि उन्हें ''हारने वाले'' चुनाव क्षेत्रों से खड़ा किया जाता है यानि ऐसी जगहें जहाँ पार्टी की कमज़ोर स्थिति है और कोई पुरुष उम्मीदवार वहाँ से खड़ा नहीं होना चाहता। परन्तु 1999 के चुनाव विश्लेषणों से एक बात ज़रूर सामने आई की महिला उम्मीदवारों की जीतने की दर मर्दों से बेहतर है।

पार्टी	कुल उम्मीदवारों में महिला उम्मीदवारों का %	कुल महिला उम्मीदवारों में जीतने वाली महिलाओं का %	कुल उम्मीदवारों में पुरुष उम्मीदवारों का %	कुल पुरुष उम्मीदवारों में जीतने वाले पुरुषों का %
बीजेपी	7.4	60.0	92.6	53.2
काँग्रेस	11.0	28.0	89.0	24.8
अन्य पार्टियाँ जिन्होंने महिला उम्मीदवार खड़े किए	7.2	22.2	92.8	17.3
निर्दलीय	4.0	1.3	96.0	0.3

(स्रोत : भारतीय चुनाव आयोग)

राजनैतिक दलों तथा संसद के अलावा औरतों का निर्णय प्रक्रिया वाले सभी क्षेत्रों में भी प्रतिनिधित्व कम रहता है। भारत जैसे देश में यह बात विरोधाभासी लगती है। एक ओर तो अन्य दक्षिण एशियाई देशों के मुकाबले में भारतीय औरतें बड़ी संख्या में पेशेवर और प्रशासकीय नौकरियों में जा रही हैं। दूसरी ओर उच्चतम पदों पर वे बहुत कम दिखाई देती हैं मानों शीशे की अदृश्य दीवार उन्हें वहाँ पहुँचने न देती हो।

निर्णय प्रक्रिया में औरतें

	महिलाएँ (%)	पुरूष (%)	पुरुषों की तुलना में महिलाओं का (%)
राजनैतिक दलों की कार्यकारी समितियाँ			9
केन्द्रीय मंत्री	8	76	11
उच्च न्यायालय की न्यायधीश	15	488	3
प्रशासनिक सेवाएँ			7
ट्रेड यूनियनों की कार्यकारी समितियाँ	6	108	6

(स्रोत: मानव विकास का महबूब उल हक़ केन्द्र 2000, दक्षिण एशिया मानव विकास रिपोर्ट)

औरतों के लिए आरक्षण : सर्व सम्मति की खोज

संविधान का 81 वाँ संशोधन बिल 1996 में तैयार किया गया का जिसमें लोकसभा में औरतों के लिए आरक्षण लागू करने का सुझाव है। इस बिल को राजनैतिक दलों की सीमा पार करके अनेक महिला समूहों और महिला राजनेताओं ने अपना समर्थन दिया है लेकिन जहाँ तक संख्या का सवाल है इसके बहुत अधिक विरोधी भी हैं।

इसके खिलाफ़ एक आपत्ति तो यह है कि इससे सिर्फ़ सम्पन्न वर्ग और जाति की औरतों को ही फ़ायदा होगा एवं दलित वर्ग की औरतें और अधिक हाशिए पर चली जाएँगीं। सीटों के आरक्षण के लिए सोची गई चक्राकार लौटरी व्यवस्था की इसलिए आलोचना की गई है कि यह लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्तों के ख़िलाफ़ है क्योंकि इसमें एक तिहाई प्रतिनिधियों को ज़बरदस्ती हटाया जाएगा। इस व्यवस्था के तहत कोई भी राजनीतिज्ञ एक ही चुनाव क्षेत्र से लगातार दो बार चुनाव नहीं लड़ सकेगा। इस प्रकार चुने हुए प्रतिनिधि अपना मज़बूत राजनीतिक आधार बनाने के इरादे से उस चुनाव क्षेत्र का बहुत ज़्यादा फ़ायदा नहीं कर पाएँगे।

लोकतांत्रिक सुधार मंच नामक एक स्वतन्त्र समूह ने पार्टी आधारित कोटा रखने का वैकल्पिक रास्ता सुझाया है। इसके अन्तर्गत जन प्रतिनिधि कानून 1951 में संशोधन के द्वारा राजनीतिक पार्टियों के लिए आरक्षित चुनाव क्षेत्र सहित अपनी एक तिहाई सीटों पर महिला उम्मीदवारों को खड़ा करना अनिवार्य होगा। जो दल अथवा पार्टियाँ यह शर्त पूरी नहीं करेंगी उन्हें सजा के तौर पर एक महिला की कमी के लिए उनके दो पुरुष उम्मीदवारों की मान्यता रद्द कर दी जाएगी। वैकल्पिक बिल में संविधान के अनुच्छेद 80 तथा 171 में भी संशोधन का सुझाव है ताकि विधानसभाओं तथा राज्य सभा में भी महिला आरक्षण हो सके।

भारत उन पहले देशों में से है जहाँ धरातल पर औरतों की राजनीतिक भागीदारी के अवसर पैदा करने के लिए कानून पास किया गया। 73 तथा 74 वें संशोधन के फलस्वरूप क़रीब 10 लाख औरतें पंचायतों तथा स्थानीय निकायों में जगह पा सकी हैं। राष्ट्रीय स्तर पर इनमें से एक तिहाई औरतें विभिन्न स्तरों पर पंचायतों की अध्यक्षा हैं। 1998 के एक अध्ययन से, विभिन्न राज्यों में कुछ आश्चर्यजनक भिन्नताएँ दिखाई दीं। सिर्फ़ कर्नाटक, महाराष्ट्र, उड़ीसा और तमिलनाडू में सभी तीन स्तरों पर महिलाओं की 33% सीटों पर, महिलाएँ पाई गईं।

पंचायती राज संस्थाओं में निर्णायक पदों पर औरतें, 1998

राज्य	ग्राम पंचायत अध्यक्ष औरतों का %	पंचायत समिति अध्यक्ष औरतों का %	ज़िला परिषद अध्यक्ष औरतों का %
आँन्ध्र प्रदेश	-	34	30
हिमाचल प्रदेश	37	32	33
कर्नाटक	33	34	35
मध्य प्रदेश	39	27	38
महाराष्ट्र	33	33	34
मणिपुर	33	-	50
उड़ीसा	35	36	33
तमिलनाडु	34	36	35
उत्तर प्रदेश	34	41	30
भारत	**40**	**34**	**32**

(स्रोत : कौशिक, 1998)

पंचायतों में औरतों की आमद पर अनेक अध्ययन और मूल्यांकन किए गए हैं। जिनके परिणाम मिले जुले हैं। अनेक घटक आज भी पंचायती राज में औरतों की भागीदारी के रास्ते में रुकावटें पैदा कर रहे हैं।

- जो महिला अध्यक्षा पंचायतों पर अपना नियन्त्रण रखने की कोशिश करती हैं उन्हें हटाने के लिए ''अविश्वास प्रस्ताव'' लाया जाता है। तब, उपाध्यक्ष जो प्रायः पुरूष होता कुर्सी हथियाने की कोशिश करता है।
- महिला सदस्यों को हिंसा का भी खतरा होता है जिसका इस्तेमाल उनकी भागीदारी सीमित करने के साधन के रूप में किया जाता है।
- राजनैतिक अनुभवहीनता तथा सार्वजनिक कार्यों के लिए आवश्यक दक्षता की कमी ने भी औरतों की संभावनाओं को बाँध रखा है।
- औरतों को, लगातार ताकतवर लोगों द्वारा, उन्हें अपने साथ मिला लेने की कोशिशों के ख़िलाफ़ संघर्ष करना पड़ता है।
- औरतों की भागीदारी के रास्ते की एक और रूकावट है उनकी वेतन पर निर्भरता तथा घर के रोज़मर्रा के कामों की ज़िम्मेदारी जो उन्हें हर हाल में उठानी पड़ती है।

राजनैतिक जगह पाने का दावा

औरतों को अपनी संख्या की ताक़त को सक्रिय भागीदारी में बदलने में काफ़ी समय लगा है लेकिन जहाँ कहीं ऐसा हुआ है परिणाम आश्चर्यजनक रहे हैं। औरतों ने स्वास्थ्य, शिक्षा तथा बुनियादी सेवाओं तक पहुँच के मुद्दों को प्राथमिकता दी है। वे अधिकतर पूरे समुदाय के ज़ीवन के हालात में काफ़ी बदलाव ला पाने में सफल होती हैं। महाराष्ट्र, गुजरात तथा पश्चिम बंगाल की, पूरी तरह से औरतों की पंचायतों को उनके अच्छे काम के लिए मान्यता और प्रशंसा मिली है। कई इलाकों में इन चुनी हुई महिलाओं ने महिला समूहों के साथ मज़बूत नैटवर्क बना लिए हैं। वे पंचायती राज की कार्रवाइयों में काफ़ी परिवर्तन भी ला सकीं हैं।

अब अधिक से अधिक संख्या में भारतीय औरतें निजी क्षेत्र में उनकी तरक्की के रास्ते में खड़ी अदृश्य शीशे की दीवार को धक्का दे रहीं हैं, निर्णय प्रक्रिया के उच्चतम पदों तक पहुँचने के रास्ते की रूकावट बनने वाले तौर तरीकों और प्रक्रियाओं को चुनौती दे रहीं हैं।

सरकारी प्रशासन के क्षेत्र में कर्नाटक ने कमाल कर दिखाया है वहाँ राज्यपाल, मुख्य सचिव और बैंगलोर की मेयर सभी औरतें हैं। हाल में विदेश सचिव के पद पर एक महिला की नियुक्ति भी स्वागत योग्य बदलाव हैं।

भय से आज़ादी

भारतीय संविधान सभी भारतीयों को शरीर की अखंडता, व्यक्तिगत सुरक्षा व निश्चिन्तता का आश्वासन देता है। पिछले दस सालों में औरतों के ख़िलाफ़ हिंसा के मुद्दों पर पुलिस तथा न्याय व्यवस्था के भीतर संवेदनशीलता बढ़ी है। महिला समूहों द्वारा लगातार चलाए गए अभियानों के फलस्वरूप औरतों को शारीरिक हिंसा से बचाने के लिए कानूनों को सख्त बनाया गया है।

फिर भी औरतों के ख़िलाफ़ हिंसा बढ़ती नज़र आती है। 1980 से 1990 के बीच औरतों के ख़िलाफ़ होने वाले अपराधों में लगभग 74% की बढ़ोतरी नज़र आई। बलात्कार, यौन उत्पीड़न तथा पति व ससुराल वालों द्वारा यातना के मामलों में सबसे ज़्यादा बढ़त देखी गई।

सरकारी आँकड़ों में पिछले दस वर्षों में एक साफ़ ढर्रा दिखाई देता हैं। औरतों के ख़िलाफ़ होने वाले अपराधों की रपट कराने में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। 1998 में राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड कार्यालय ने बताया कि 2010 तक महिलाओं के ख़िलाफ़ होने वाले अपराधों की बढ़ोतरी दर, जनसंख्या बढ़ोतरी दर से अधिक हो जाएगी। फिर भी जनसंख्या बढ़ोतरी के प्रति लोग कहीं अधिक चिंतित होते हैं, उस पर चर्चा करते हैं जबकि महिलाओं के ख़िलाफ़ होने वाले अपराधों के बढ़ते ढर्रे से जन चेतना को रत्ती भर भी फ़र्क नहीं पड़ता।

अपराधों की रपट अधिक लिखाए जाने को कई बार सकारात्मक रूप में देखा जाता है यानि अब अधिक औरतें चुप्पी को तोड़ कर बाहर निकल रही हैं तथा अब अधिक जेंडर संवेदनशील पुलिस बल उन शिकायतों को सहानुभूति व कार्यकुशलता से दर्ज कर रहा है।

(स्रोत : राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड कार्यालय 2001)
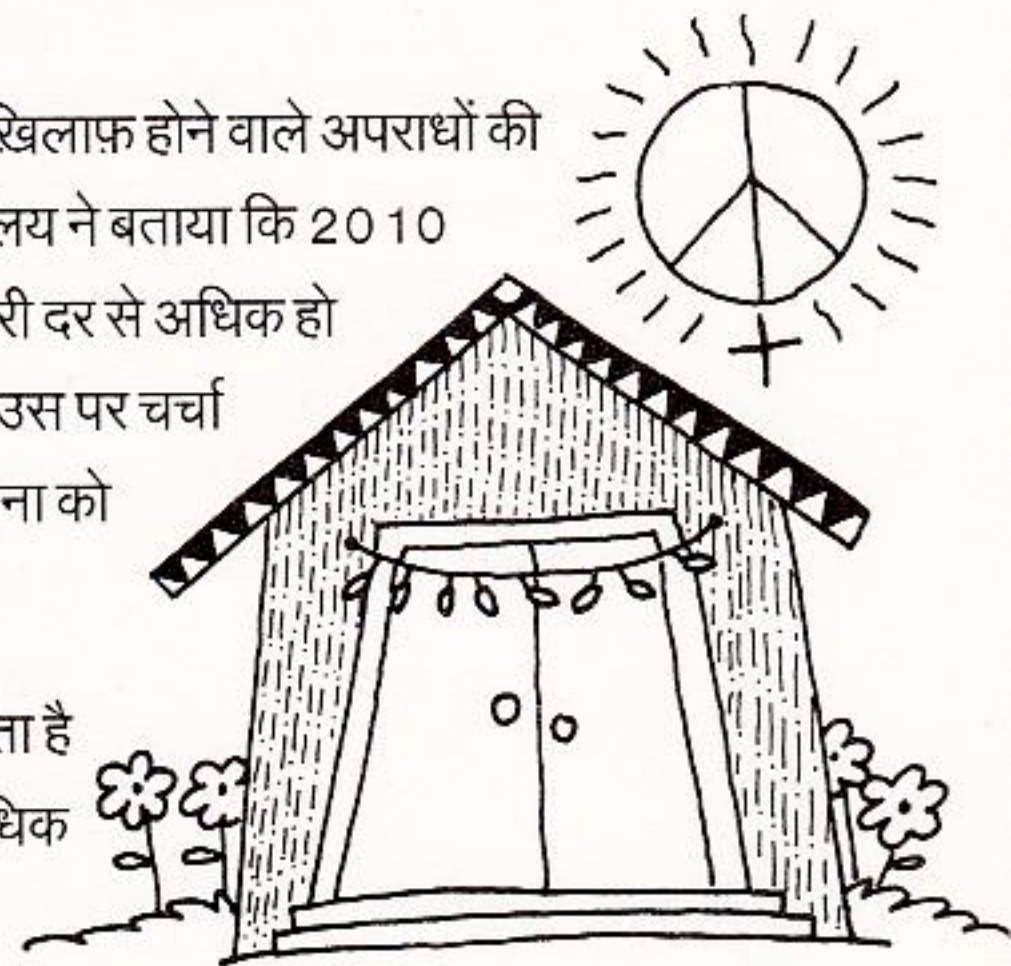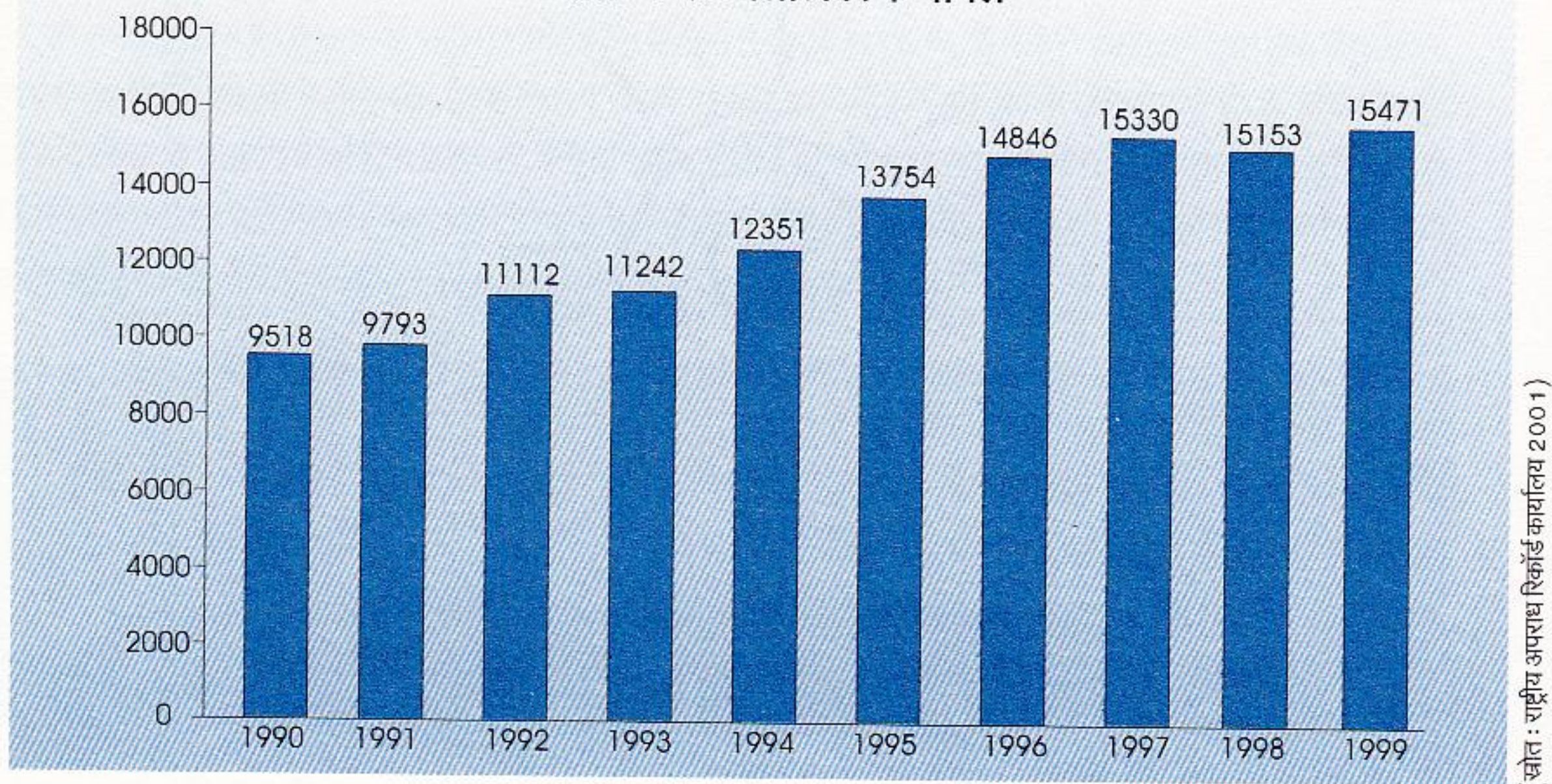
परन्तु यह तस्वीर बहुत कष्टदायक बन जाती है जब हम रिपोर्ट दर्ज कराने के आँकड़ों के साथ-साथ अपराध साबित होने के तथा अदालतों में विचाराधीन मामलों के आँकड़े देखते हैं।

देहली में बलात्कार साबित होने की दर

वर्ष	प्रतिशत
1990	27.0
1991	21.4
1992	21.4
1993	31.0
1994	42.3
1995	38.6
1996	26.0
1997	33.0

हिंसा का ख़तरा औरतों की आज़ादी के रास्ते में बहुत बड़ी बाधा है। सार्वजनिक जगहों पर सुरक्षा की कमी के कारण अनेक बार माता-पिता व परिवार वाले अपनी बेटियों को स्कूल नहीं जाने देते, औरतों को घर से बाहर काम करने या सहेलियों से मिलने जाने की इजाज़त नहीं देते।

सबसे दुखद सच्चाई यह है कि ये ''सावधानियाँ'' कोई काम नहीं आतीं। अधिकांश मामलों में औरतों के ख़िलाफ़ हिंसा करने वाले उनके अपने ही घर वाले या नज़दीकी जानकार होते हैं, ना कि ''बाहर वाले''

यह साबित करने के लिए अब बहुत से सुबूत मौजूद हैं कि आयु, वर्ग, जाति और समुदाय की सीमाओं से परे हर औरत घरेलू हिंसा की शिकार हो सकती है। शादी, संयुक्त परिवार, शिक्षा, आर्थिक सुरक्षा तथा सामाजिक दर्जा इनमें कोई भी उसे पूरी तरह से सुरक्षा नहीं देता।

परिवर्तनशील घटक	कभी शादी हुई उन औरतों का % जिन्होंने पिछले 12 महीनों में शारीरिक हिंसा का सामना किया है
सभी श्रेणियाँ	
औरतों की आयु	
15-19	11.5
20-29	12.4
30-39	11.3
40-49	7.6
जाति/कबीला	
अनुसूचित जातियाँ	15.4
अनुसूचित जन जातियाँ	13.0
अन्य पिछ्ड़ी जातियाँ	11.7
अन्य	7.8
पारिवारिक संगठन	
एकल परिवार	12.7
ग़ैर एकल परिवार	9.5
औरतों की शिक्षा	
निरक्षर	14.1
साक्षर, माध्यमिक स्कूल	8.8
माध्यमिक स्कूल पास	7.0
हाई स्कूल पास तथा अधिक	3.6
निवास	
ग्रामीण	12.2
शहरी	7.7
धर्म	
हिन्दू	11.1
मुस्लिम	11.4
ईसाई	10.3
सिख	7.1
रोज़गार का दर्जा	
पैसे के लिए काम करना	14.5
काम करना लेकिन पैसे के लिए नहीं	12.1
पिछले 12 महीने में काम नहीं किया	9.3

(स्रोतः जनसंख्या विज्ञान का अन्तर्राष्ट्रीय संस्थान 2000, राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण 2, 1998-99)

घरेलू हिंसा की शुरुआत के कारण भी बहुत चिंताजनक हैं। अत्यन्त महत्वहीन कारण भी मानों ''सज़ा देने'' के लायक समझे जाते हैं।
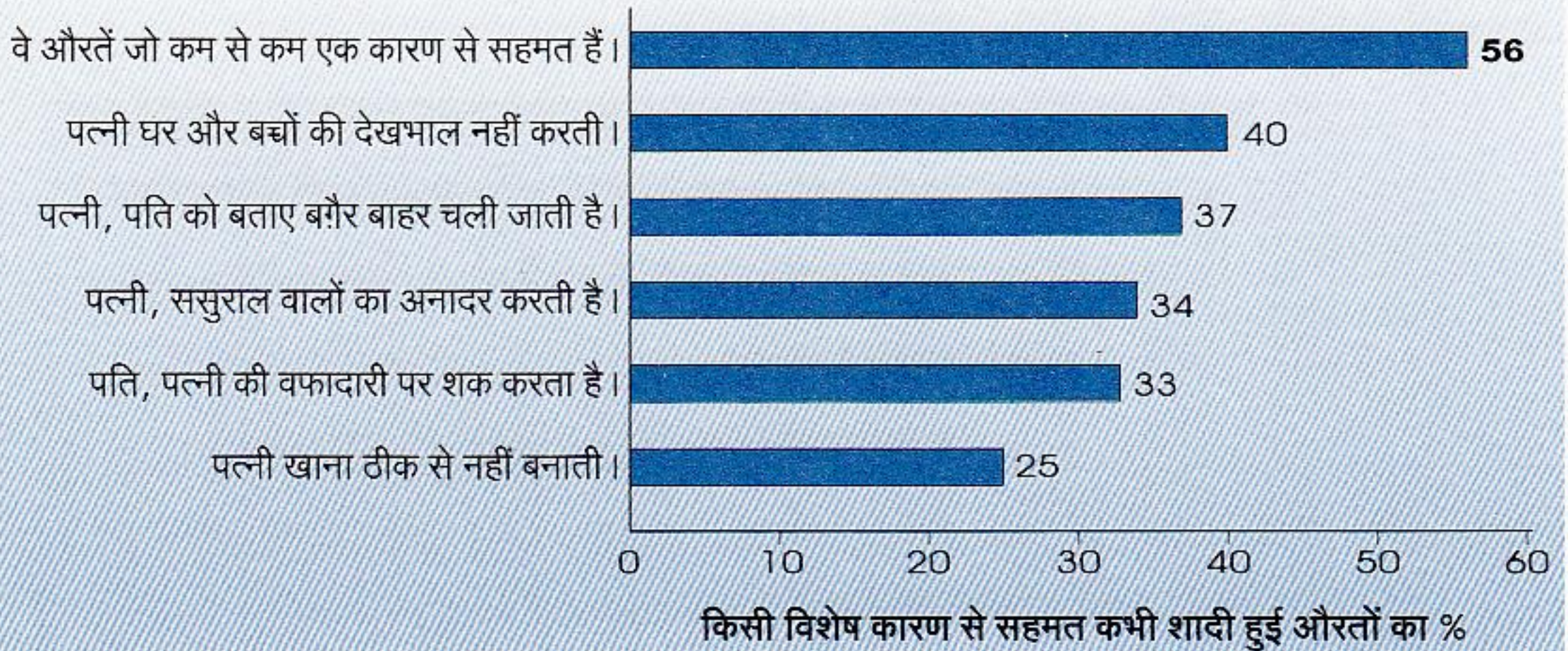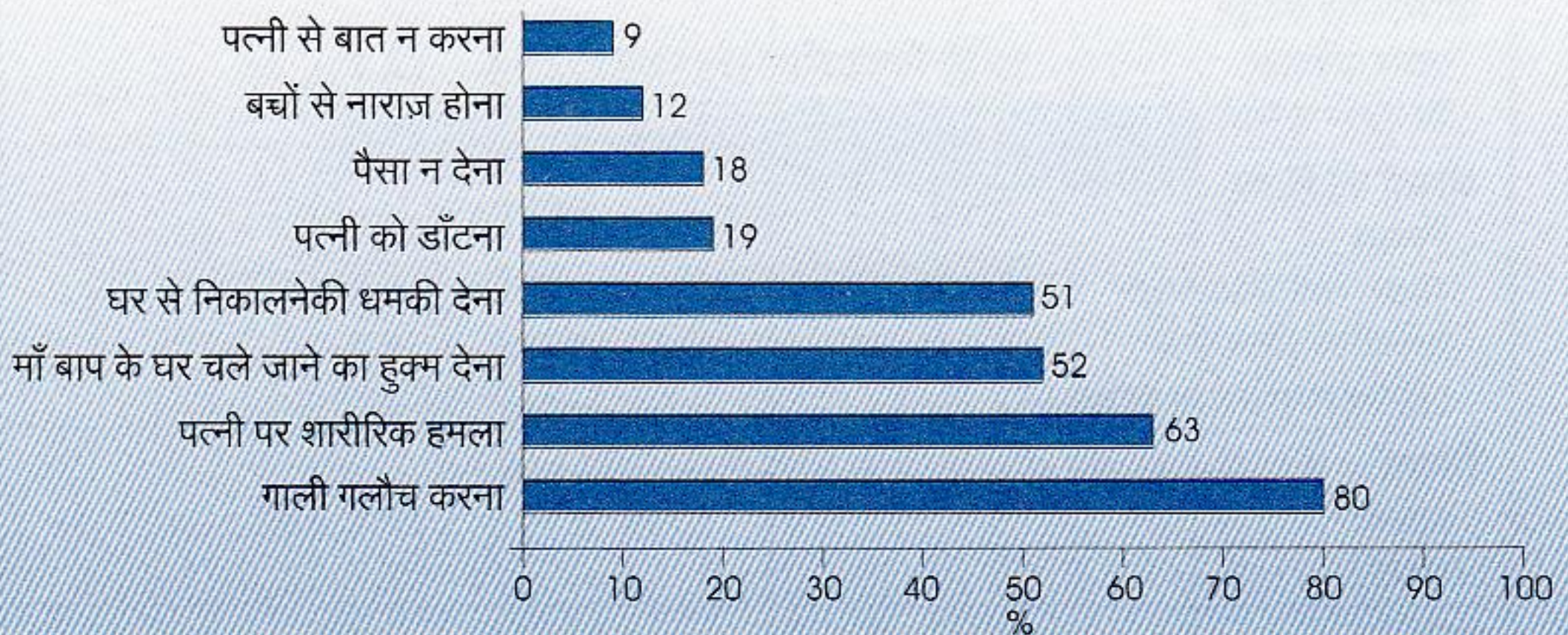
परिवारों के भीतर औरतों के ख़िलाफ़ हिंसा को प्रायः निम्न कारणों से जायज़ ठहराया जाता है और उसका समर्थन किया जाता है जैसे औरत पर मर्द का दबदबा जमाने के लिए, उसे ''अनुशासन'' में रखने के लिए, अपना फ़र्ज़ पूरा न करने की सज़ा देने के लिए इसे ज़रूरी माना जाता है। यह सोच न सिर्फ़ मर्दों की है बल्कि अनेक बार औरतें भी यही मानती हैं। एक बार फिर शिक्षा ही वह परिवर्तनशील घटक है जो औरतों द्वारा हिंसा बर्दाश्त करने के स्तर तय करती है। सकारात्मक रुझान यह है कि हाई स्कूल तक शिक्षित औरतें पतियों द्वारा मारपीट को कम बर्दाश्त करती हैं।
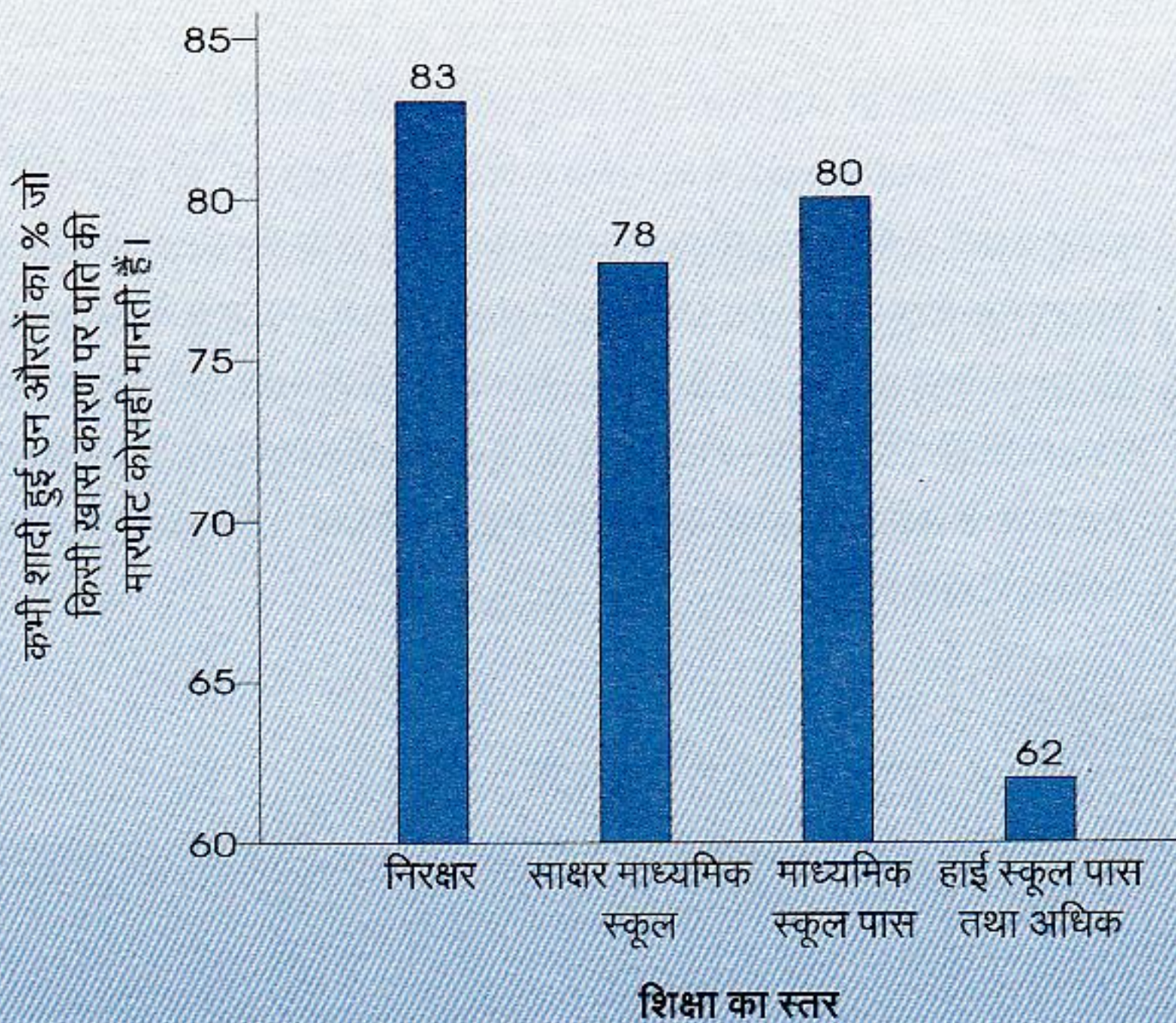
क्या कानून औरतों को हिंसा से सुरक्षा देता है?

औरतों को न्याय मिलने के रास्ते में सबसे बड़ी रूकावट हिंसा से जुड़े कानून हैं। यह समस्या तब और भी गंभीर हो जाती है जबकि स्वयं न्यायपालिका औरतों के ख़िलाफ़ हिंसा को ज़रूरी और सही मानने के पूर्वाग्रह से ग्रसित हो।

- बलात्कार की परिभाषा लिंग प्रवेश के अलावा अन्य सभी प्रकार के यौन अत्याचारों को बलात्कार नहीं मानती।
- रज़ामंदी की आयु 15 वर्ष रखी गई है जो संविधान के अनुसार वयस्क औरत की आयु यानि 18 वर्ष से कम है।
- शादी के भीतर बलात्कार की धारणा को ही स्वीकार नहीं किया गया है जब तक कि पत्नी की उम्र 12 साल से कम ना हो, जबकि अवयस्क से शादी करना ही अपने आप में एक अपराध है।
- यदि औरत शारीरिक चोट के रूप में बलात्कार का विरोध करने का सुबूत नहीं दिखा सकती तो उसे उसकी रज़ामंदी समझा जाएगा।

(स्रोतः साक्षी, 1998)

औरतों को किस तरह का न्याय मिलेगा इसका निर्णय होने में वैयक्तिक रूप से न्यायधीश का अपना रवैया एक महत्वपूर्ण घटक है। एक सरकारी कार्यक्रम की कार्यकर्ता के मामले में, जिसका कि बाल विवाह का विरोध करने के कारण सामूहिक बलात्कार किया गया था निचली अदालत द्वारा दिया गया फ़ैसला ऐसे पूर्वाग्रह की स्पष्ट मिसाल है। बचाव पक्ष का मुख्य तर्क यही था कि इस मामले में लगाए आरोप ''भारतीय संस्कृति तथा मानव मनोविज्ञान के ख़िलाफ़'' थे। चूंकि सभी बलात्कारी अधेड़ उम्र के, अपनी जाति में इज्ज़तदार लोग थे, इस बात को उनके निरपराधी होने के सुबूत के रूप में पेश किया गया क्योंकि ''बलात्कार प्रायः किशोर युवक करते हैं।'' फ़ैसले में इसी बात को दोहराया गया और यह भी कहा कि चूंकि सभी अभियुक्त ब्राह्मण सहित ऊँची जाति के थे इसलिए बलात्कार हो ही नहीं सकता क्योंकि पीड़ित औरत नीची जाति की है। न्यायाधीश ने भी उसके ''नैतिक चरित्र'' के बारे में बचाव पक्ष के वकील के संकेतों का समर्थन किया। सभी पाँचों अभियुक्तों को बलात्कार के इलज़ाम से बरी कर दिया गया।

1996 में किए गए एक अध्ययन में, औरतों के ख़िलाफ़ हिंसा के बारे में उनके रवैए का अनुमान लगाने के लिए 109 न्यायाधीशों का साक्षात्कार किया गया।

- 48% का मानना था कि कुछ मौके ऐसे होते हैं जब पति द्वारा पत्नी को थप्पड़ मारना जायज़ होता है।
- 74% का मानना था कि परिवार को टूटने से बचाना ही औरत का पहला सरोकार होना चाहिए चाहे वहाँ उसे हिंसा का सामना ही क्यों न करना पड़ता हो।
- 50% का मानना था कि बच्चों के साथ यौन अत्याचार आम बात नहीं है।
- 68% का मानना था कि ''उत्तेजक'' कपड़े पहनना यौन हमले को बुलावा देना है।
- 34% का मानना था कि दहेज की एक सांस्कृतिक उपयोगिता है।
- 55% का मानना था कि बलात्कार के मामलों में औरत के नैतिक चरित्र की अहमियत है।
- 9% का मानना था कि जो औरत संभोग के लिए ना कहती है तो प्रायः उसका अर्थ 'हाँ' होता है।

हिंसा के ख़िलाफ़ मोरचा लेना

महिला आंदोलन द्वारा वर्षों की निरंतर कानूनी कार्रवाइयों की प्रतिक्रिया के रूप में उच्चतम न्यायालय ने औरतों के ख़िलाफ़ हिंसा के मुद्दों पर समानता का सिद्धान्त लागू करना शुरू किया है। 1997 में काम की जगह पर यौन उत्पीड़न के मुद्दे पर अत्यन्त

महत्वपूर्ण फ़ैसले के अलावा अब फ़ैसलों में सीडो तथा मानव अधिकार समझौते जैसे अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों को लागू किया जाने लगा है।

2001 को महिला सशक्तिकरण वर्ष घोषित किए जाने के बाद भारत सरकार ने औरतों के ख़िलाफ़ हिंसा का मुकाबला करने के लिए और अधिक कड़े कानून बनाने की घोषणा की है। प्रस्तावित बिल में हिंसा की शिकार औरतों को सुरक्षा, राहत तथा बच्चों की अभिरक्षा का अधिकार दिया जाएगा।

घरेलू हिंसा लोगों का व्यक्तिगत मामला है यह आम सोच भी अब बदल रही है। टाइम्स ऑफ़ इंडिया द्वारा बैंगलोर में किए गए एक सर्वेक्षण में 250 औरतों तथा मर्दों से साक्षात्कार किया गया था। उनमें से 81% ने घरेलू हिंसा को एक गंभीर समस्या माना तथा उसके अन्तर्गत गाली-गलौच, मारपीट, यौन उत्पीड़न और मानसिक यातना को शामिल किया। अधिकांश लोगों का कहना था घरेलू हिंसा के मामलों में कानूनी कार्रवाई करना सही है।

जेंडर समानता की ओर
औरतों के लिए अधिक आज़ादी की ओर

भारतीय संविधान 50 साल से कुछ अधिक पुराना है। भारत जैसे प्राचीन देश के इतिहास में 50 साल का समय बहुत कम समय हो सकता है लेकिन इस दौरान हर स्तर के भारतीयों के जीवन में बहुत अधिक बदलाव आया है।

आज भारत, बहुत सी बातों पर गर्व कर सकता है। भारतीय लोकतंत्र ने अपनी प्रगतिशीलता, और बड़ी-बड़ी राजनीतिक उथल-पुथल व आर्थिक-सामाजिक बदलावों के बावजूद टिके रहने की क्षमता साबित कर दी हैं। बढ़ोतरी दर इससे अधिक कभी नहीं रही है। आर्थिक अखाड़े में नए दिग्गज खिलाड़ियों की भीड़ है। राजनैतिक भागीदारी बहुत अधिक बढ़ी है तथा धरातल से चुन कर आने वाले प्रतिनिधियों का जाति व जेंडर स्वरूप बदला है। तकनीकी प्रगति के कारण अब लाखों लोगों की जानकारी तक पहुँच हो गई है। लोग अब संगठित होकर राजनीतिक और विकासात्मक प्रक्रियाओं में अधिक भागीदारी का दावा करने लगे हैं तथा सरकारी अधिकारियों व चुने हुए प्रतिनिधियों से जवाबदारी माँग रहे हैं। विकेन्द्रित शासन व्यवस्थाएँ राजनीति के हर स्तर पर विकसित की जा रहीं हैं, परखी जा रही हैं और उन्हें संस्थाओं का हिस्सा बनाया जा रहा है।

पचास साल पहले की तुलना में आज भारतीय औरतें कहीं अधिक दिखाई और सुनाई देती हैं। आज उन्होंने सार्वजनिक जीवन के हर क्षेत्र में प्रवेश कर के अपना असर छोड़ा है। आज न सिर्फ़ औरतों के जीवन से जुड़े मुद्दों पर बल्कि पूरे देश के लिए अहम मुद्दों पर कई सशक्त और जीवन्त महिला आंदोलन चल रहे हैं। प्राकृतिक संसाधनों के नियंत्रण और प्रबन्धन का अधिकार, सूचना का अधिकार, विकास संबंधी फ़ैसलों में भागीदारी का अधिकार से जुड़े भारतीय आंदोलनों ने इन मुद्दों पर सारी दुनिया में चल रही बहस के मापदंड तय किए हैं। लाखों औरतें इन संघर्षो और आन्दोलनों का हिस्सा हैं।

भारतीय महिला आंदोलनों की उपयोगिता और प्रभावकता इसी बात से साबित होती है कि आज औरतों के अधिकार, सभी राजनैतिक व विकास संबंधी चर्चाओं के केन्द्र में होते हैं। औरतों की राजनीतिक भागीदारी के लिए सकारात्मक क़दम उठाना, ग़रीबी निवारण के मुख्य कार्यक्रमों को महिला समूहों के ज़रिए लागू करना, औरतों की समानता सुनिश्चित करने के लिए कानूनों व नियमों की समीक्षा आदि सिद्ध करते हैं कि राजनैतिक तथा नीतियों के स्तर पर महिलाओं को मान्यता मिल चुकी है।

फिर भी इस रिपोर्ट में दिए गए तथ्यों को झुठलाया नहीं जा सकता, जो संवैधानिक आश्वासन और औरतों की रोज़मर्रा की जिन्दगी की सचाईयों के बीच के बड़े फ़ासले के सुबूत हैं। इन फ़ासलों को स्वीकार करना ज़रूरी है क्योंकि इन फ़ासलों को दूर करने के लिए सामूहिक सशक्त कोशिश करने का इससे अच्छा वक्त और कोई नहीं हो सकता। भारत की आधी जनता की स्वतन्त्रता और समानता में बाधक बनने वाली रूकावटों को पहचान कर उखाड़ फेकनें का यही समय हैं।

यह सच है कि सभी औरतें समान नहीं हैं। सुविधा प्राप्त, उच्च वर्ग और उच्च जाति की औरतें, दमित वर्ग और जाति के पुरुषों से अधिक आज़ादी और अवसर पातीं हैं। जेंडर असमानता ही भारत में अकेली असमानता नहीं है। भारत में औरतें आज़ाद और समान नहीं हैं तो दलित और आदिवासी, निम्न जातियों और समुदायों के लोग, भूमिहीन, विस्थापित लोग, स्थानान्तरित, बेघरबार, विकलांग तथा अन्य कई समूह भी आज़ाद और समान नहीं हैं। फिर भी औरतें इन में से हर समूह के ढेर में सबसे नीचे हैं। गाँधी जी की धारणा का ''आख़िरी आदमी'' जो गरीबों में सबसे ग़रीब और शक्तिहीन है, वह वास्तव में एक औरत है। इस ''आख़िरी औरत'' को बराबर आज़ादी और अवसर तभी मिल सकते हैं जब असमानताएँ पैदा करने तथा जारी रखने वाले ढाँचे और व्यवस्थाएँ बदली जाएँ- एक ऐसा बदलाव या काया पलट, जिससे समाज के हर दबे हुए समूह को राहत मिलेगी।

''सभी मुद्दे औरतों के मुद्दे हैं'' इस नारीवादी नारे का एक उतना ही महत्वपूर्ण दूसरा रूप है ''औरतों के मुद्दे सभी के मुद्दे हैं'' ये दो नारे बदलाव की रणनीति की मूल भावना को दर्शाते हैं।
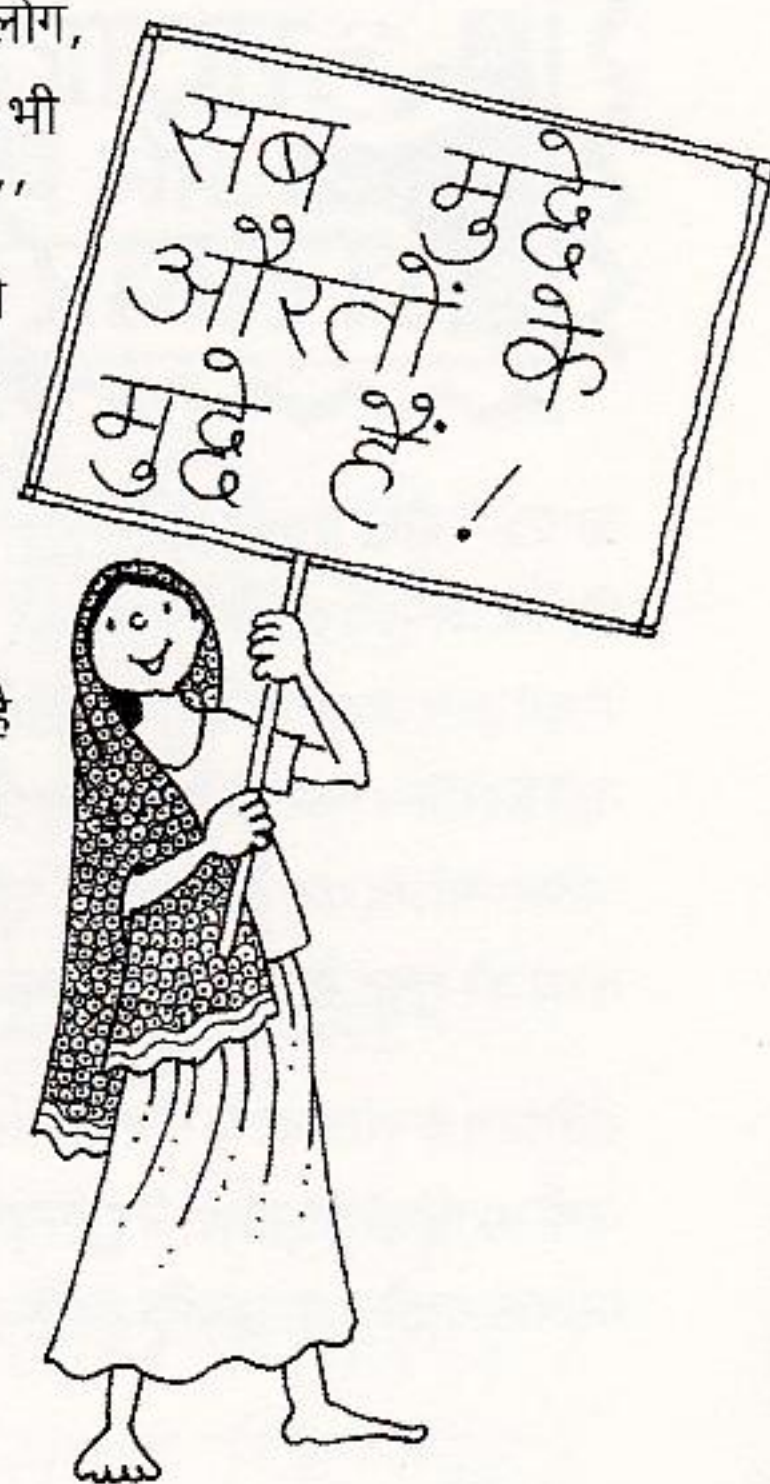
एक ओर तो औरतों को चाहिए कि वे अपने हक़ों और दायरों की माँग करती रहें, दूसरी ओर उन्हें निर्णय प्रक्रिया के नए दायरों में प्रवेश पाने की कोशिश भी करते रहना चाहिए ताकि वे स्वयं कार्यसूची तय करने तथा दूसरों द्वारा निश्चित कार्यसूची पर चर्चा करने की स्थिति में आ सकें। अब कुछ तथाकथित ''नर्म'' क्षेत्रों के विकास के लिए औरतों की मौजूदगी और भागीदारी ज़रूरी शर्त मानी जा रही है। प्राथमिक शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वच्छता, पीने के पानी का प्रबन्धन जैसे कार्यक्रमों और नीतियों का स्वरूप तय करने के लिए औरतों के नज़रिए और उनके तजुर्बों की माँग की जाती है और उनका इस्तेमाल किया जाता है, परंतु यह काफी नहीं है। सिर्फ़ नर्म क्षेत्र ही नहीं आर्थिक नीति, सुरक्षा, उद्योग, कृषि, व्यापार जैसे ''सख्त'' क्षेत्रों संबंधी नीतियों पर चलने वाली खुली बहस में भी औरतों के अनुभवों, उनकी योग्यताओं और भविष्य की परिकल्पनाओं की मदद ली जानी चाहिए। ये सभी औरतों के अपने मुद्दे हैं क्योंकि इन मुद्दों से जुड़े फैसलों का असर, औरतों के जीवन पर पड़ता है।

दूसरी ओर मर्दों तथा औरतों को मिल कर सभी नागरिकों के अधिकार और स्वतन्त्रताएँ सुनिश्चित करने के लिए काम करना पडेगा। औरतों की समानता का आंदोलन जन आंदोलन बन जाना चाहिए। यह सिर्फ़ इसलिए नहीं है कि असमानताएँ, जैसा कि इस रिपोर्ट में दर्ज किया गया है सभी वर्गों, जातियों और क्षेत्रों की औरतों व मर्दों के रवैयों और कार्रवाइयों के द्वारा जिंदा रहती हैं और मज़बूत होती है बल्कि इसलिए भी कि असमानताएँ इन रवैयों और कार्यवाइयों को पैदा करने और जारी रखने वाले सामाजिक ढाँचों और संस्थाओं के ज़रिए अपने आपको अभिव्यक्त करती हैं।

हमारे समाज की इमारत की हर ईंट चाहे वह परिवार हो या शासन तंत्र किसी न किसी रूप में इस विषैले चक्र में योगदान देती है। कभी-कभी असमानता व भेदभाव बहुत स्पष्ट और दृश्य तरीके से ढाँचे का हिस्सा बना दिये जाते हैं जैसा कि कुछ धार्मिक पदानुक्रमों या पान की दुकान पर मर्दों की अड्डेबाज़ी में दिखाई देता है जहाँ औरतों के प्रवेश पर बंदिश होती है। इन दोनों ही मामलों में रीति रिवाज और परम्परा के नाम पर भेदभाव को जायज़ ठहराया जाता है। औरतों को इन ढाँचों से बाहर रखा जाता है, जिससे परम्परा बनती है व मज़बूत होती है और उन्हें चुनौती नहीं दी जाती। कई बार असमानता ढाँचे में नहीं होती बल्कि जिस ढंग से वह काम करता है, उसमें होती हैं। मिसाल के लिए हालांकि औरतों को लोकसभा का चुनाव लड़ने से रोकने वाला कोई कानून नहीं है लेकिन फिर भी बहुत कम औरतें वास्तव में सांसद बनती हैं। ऐसी परिस्थितियाँ ख़ुद अपने आपको जारी रखती हैं। चूंकि महिला सांसद कम है औरतों के मुद्दे और उनका नज़रिया चर्चाओं में कम जगह पाता है। साथ ही राजनीति में कम औरतें होने के तथ्य को सुबूत के तौर पर इस्तेमाल किया जाता है कि राजनीति औरतों का काम नहीं है।

संविधान के संरक्षकों के तौर पर संसद, न्यायपालिका तथा भारतीय सरकार जैसी सरकारी संस्थाओं से आशा की जाती है कि वे सभी नागरिकों की आज़ादी सुनिश्चित कराने में अगुवाई करेंगी। भूमंडलीकरण, तेज़ी से हो रहे बाज़ार विस्तार तथा निजीकरण के वर्तमान माहौल में, जबकि आर्थिक कार्यकुशलता का महत्व अन्य अहम निर्णयों पर हावी हो रहा है, सरकार द्वारा विकास की
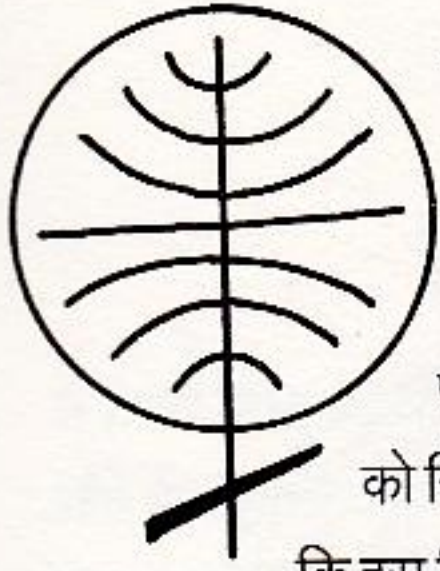
प्रक्रियाओं पर अपना नियंत्रण बनाए रखना तथा बुनियादी सेवाएँ मुहैया कराने के संबंध में नियमों की व्यवस्था, सामाजिक नियंत्रण तथा जवाबदारी को मज़बूत करना अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

सिर्फ़ भारत में ही नहीं बल्कि सारी दुनियाँ में यह बहस चल रही है कि क्या सरकारों को शिक्षा, स्वास्थ्य, पीने का पानी जैसी सेवाओं पर होने वाले ''ग़ैर उत्पादक'' ख़र्चों में कटौती करनी चाहिए अथवा इन सेवाओं को निजी क्षेत्र को दे दिया जाना चाहिए जो अधिक कार्यकुशलता और कम क़ीमत पर ये सेवाएँ दे सकते हैं। जैसा कि इस रिपोर्ट में बताया गया है कि इन क्षेत्रों में थोड़ी सी बेहतरी, जैसे शिक्षा तक अधिक पहुँच, स्वास्थ्य सेवाओं व टीकाकरण की उपलब्धता से औरतों के जीवन के भौतिक हालात में बहुत अधिक फ़र्क आ सकता है। वैसे ही इन क्षेत्रों के ख़र्चे में कमी से औरतों को बहुत अधिक नुकसान हो सकता है। यदि इन क्षेत्रों को निजी हाथों में दे दिया जाता है जो सामाजिक न्याय तथा समानता का ख़याल न करके मुनाफ़े के आधार पर काम करते हैं तो औरतों तथा हाशिएबंद समूहों के हितों की रक्षा किस तरह से हो सकेगी ?

इसी प्रकार से आर्थिक बढ़ोतरी की प्रकृति के बारे में कुछ कठोर सवाल पूछे जाने चाहिए। क्या बढ़ोतरी से औरतों के लिए नई नौकरियाँ पैदा हो रही हैं? क्या इससे सुनिश्चित होता है कि कामगारों के हक़ उन्हें मिलेंगे? क्या यह औरतों के हितों की रक्षा करती है? या 1996 की मानव विकास रिपोर्ट के शब्दों में यह ''अस्थाई, निर्मम, बेरोज़गार, बेआवाज़ और बग़ैर भविष्य की है?''

महिला समूह विभिन्न मंचों पर ये सवाल उठाते रहे हैं परन्तु ऐसे सवालों का, वैयक्तिक लोगों या सिर्फ़ कुछ महिलाओं द्वारा जवाब देना तो दूर पूछना भी मुश्किल है। इन सवालों को सभी स्तरों पर उठाया जाना चाहिए तथा इन पर बहस होनी चाहिए ताकि ये सिर्फ़ कुछ लोगों के सरोकार न बन कर जन मुद्दे बन सकें।

बहुत से काम करने की ज़रूरत है

- आर्थिक बढ़ोतरी की प्रक्रिया को औरतो के लिए बढ़ते अवसरों तथा घटते भेदभाव के साथ जोड़ना होगा। औरतों की बुनियादी सेवाओं तक पहुँच बढ़ानी होगी। शिक्षा पोषण तथा स्वास्थ्य सेवाओं के बारे में जागरूकता, पहुँच, उपलब्धता तथा कम कीमत सुनिश्चित करनी होगी।

काम के साथ विकास!
अवसरों के साथ विकास!
बराबरी के साथ विकास!
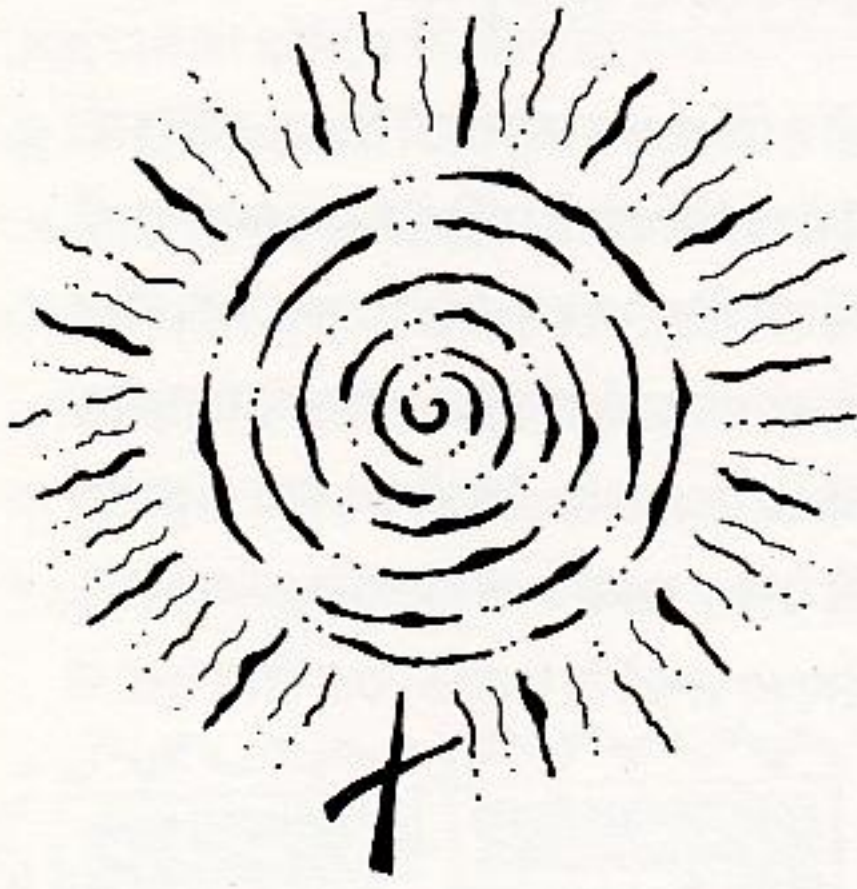
- औरतों को खुद अपने लिए बोलने का तथा निर्णय प्रक्रिया के सभी स्तरों से जुड़ने का मौका देना होगा ताकि उनके नज़रिए तथा हितों को ध्यान में रखे बग़ैर कोई फैसला न लिया जा सके। हर स्तर पर महिला नेताओं को प्रभावी ढंग से काम करने व औरतों के हितों को आगे बढ़ाने के लिए अपनी योग्यता विकसित करने में मदद देनी होगी।

- संसद से लेकर टेलीविजन बातचीत तक सभी सार्वजनिक चर्चाओं में सभी नागरिकों के लिए समानता और स्वतन्त्रता के मूल्यों की बात करनी होगी। संचार माध्यमों को, जनमत तैयार करने में अपनी भूमिका की ज़िम्मेदारी उठानी होगी तथा सुनिश्चित करना पडेगा कि औरतों के मुद्दों को पर्याप्त जगह मिले। औरतों के चित्रण में, बाज़ार संस्कृति के मूल्यों के स्थान पर जेंडर समानता के मूल्य दर्शाने होंगे।

- माता-पिता को अपने बच्चों के प्रति अपने रवैये में बदलाव लाना होगा और उनका पालन पोषण समान ढंग से करना होगा। लड़कियों को अपने फ़ैसले खुद करने और अगुवाई के गुण विकसित करने के मौके देने पड़ेंगे तथा लड़कों को सिखाना चाहिए कि वे अपनी बहनों को बराबरी का दर्जा और इज्ज़त दें। खासतौर पर लड़कियों को भी बेटों जैसी, उसी प्रकार की और उतनी ही शिक्षा तक पहुँच प्राप्त करानी होगी। शिक्षा व्यस्था में ऐसे परिवर्तन लाने होंगे कि शिक्षा की विषयवस्तु और प्रक्रिया में जेंडर समानता लक्षित हो।

बेटियों को अगवाई करने के मौके दो!

- जेंडर समानता के आंदोलन को केवल औरतों के सरोकारों से शुरू होकर जन मुद्दों तक पहुँचाना होगा। हर कोई जो औरतों की आज़ादी और समानता के प्रति वचनबद्ध है उसे जागरूकता बढ़ाने की कार्रवाई शुरू करने, निर्णय कर्ताओं का ध्यान खींचने, सामाजिक रूकावटें दूर करने तथा न्याय सुनिश्चित करने के लिए दूसरों के हाथ थाम कर एक जुट होना पडेगा।

- लोगों को अपने सोचने और बर्ताव करने के ढंग को बदलना होगा। सभी उम्रों, विश्वासों और पृष्ठभूमियों की औरतों तथा मर्दों के बीच आपसी रिश्तों को दिशा और स्वरूप देने वाला मूल मंत्र, समानता तथा अधिकारों के लिए सम्मान होना चाहिए। असमानता तथा शोषण पर आधारित संबंधों को समानता और परस्परता में बदलना होगा।

स्त्री-पुरुष बराबरी
सिर्फ़ औरतों का मुद्दा नहीं है...
...यह पूरे समाज का मुद्दा है!

संदर्भ

सैन्टर फ़ॉर एडवोकेसी एण्ड रिसर्च, 2000
''टेलीविजन कार्यक्रमों में समाचारों तथा समसामयिक विषयों में मुद्दों का प्रतिनिधित्व।''
चन्द्रशेखर सी.पी तथा जयति घोष 2001
''रूरल एम्प्लॉयमैन्ट : द 1990ज़ पिक्चर''
ड्रेज़, जीन तथा अमर्त्यसेन 1995
''इंडिया : इकनॉमिक डवलपमैन्ट एण्ड सोशल औपुर्च्युनिटी''
ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली
भारतीय चुनाव आयोग
भारत सरकार 2000 ''आर्थिक सर्वेक्षण 1999-2000
आर्थिक विभाग, वित्त मंत्रालय नई दिल्ली
जनसंख्या विज्ञान का अन्तर्राष्ट्रीय संस्थान (खखझड) 1995
राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण (मातृ व बाल स्वास्थ्य और परिवार नियोजन) भारत 1992-93 मुम्बई
जनसंख्या विज्ञान का अन्तर्राष्ट्रीय संस्थान (खखझड) तथा ओ आर सी मैक्रो 2000 राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण 1998-99 भारत, मुम्बई
जनसंख्या विज्ञान का अन्तर्राष्ट्रीय संस्थान (खखझड) तथा ओ आर सी मैक्रो 2000 राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण 1998-99 आन्ध्र प्रदेश
अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन 1999 ''विमैन वर्कर्स राइट्स इन इंडिया : इश्यूज़ एण्ड स्ट्रैटेजीज़ - अ रैफ़रेन्स गाइड'' नई दिल्ली
झाबवाला रेनाना तथा जेन टेट 1996, आउट ऑफ शैडोज़ : होम बेस्ड वर्कर्स ऑर्गनाइज़ फॉर इन्टरनैशनल रिकॉगनीशन, सीड
कौशिक सुशीला 1998 ''पार्टिसिपेशन ऑफ विमैन इन पंचायती राज इन इंडिया : अ स्टॉक टेकिंग'' राष्ट्रीय महिला आयोग, नई दिल्ली
ख़ान एम ई, संध्या बार्जे, नयन कुमार तथा स्टीना एल्मोरेठ ''अबोर्शन इन इंडिया : करेन्ट सिचुएशन एण्ड फ्यूचर चैलेन्जेज़'' पचौरी सरोज (सम्पा) 1999 ''इम्प्लीमैंटिंग अ रिप्रौडक्टिव हैल्थ ऐजेन्डा इन इंडिया : द बिगनिंग'' जनसंख्या परिषद् नई दिल्ली
महबूब उल हक सैन्टर फॉर ह्यूमन डवलपमैन्ट ''साउथ एशिया ह्यूमन डवलपमैन्ट रिपोर्ट 2000'' ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, कराची
राष्ट्रीय श्रम केन्द्र 1999 लेबर फाइल खंड 5 संख्या 12 नई दिल्ली
राष्ट्रीय महिला आयोग 1998 ''रिपोर्ट ऑफ अ स्टडी टू असैस द हैरसमैन्ट ऑफ़ विमैन एट वर्क इन द फॉर्मल एण्ड इनफॉर्मल सैक्टर्स'' मिमको
राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड कार्यालय 2001 क्राइम इन इंडिया 1999 नई दिल्ली
राष्ट्रीय सैम्पल सर्वेक्षण संगठन 1996 सर्वेक्षण खंड ×× संख्या 1, 68 वाँ अंक, जुलाई-सितम्बर
सांख्यिकी मंत्रालय तथा कार्यक्रम कार्यान्वियन, नई दिल्ली
योजना आयोग 1997 ''नाइन्थ फाइव इयर प्लैन 1997-2002'' भारत सरकार, नई दिल्ली
रजिस्ट्रार जनरल इंडिया 1996 पॉप्यूलेशन प्रोजेक्शन्स फॉर इंडिया एण्ड स्टेट्स 1996-2016
योजना आयोग द्वारा तैयार जनसंख्या प्रक्षेपण पर तकनीकी समूह की रिपोर्ट
रजिस्ट्रार जनरल इंडिया 1999 ''कॉम्पैन्डियम ऑफ़ इंडियाज़ फर्टिलिटी एण्ड मौर्टेलिटी इंडीकेटर्स : 1971-1997'' सैम्पल रजिस्ट्रेशन व्यवस्था पर आधारित, नई दिल्ली
रजिस्ट्रार जनरल इंडिया 1997 ''सर्वे ऑफ़ काजेज ऑफ़ डैथ (रूरल) इंडिया'' वार्षिक रिपोर्ट 1997 नई दिल्ली
रजिस्ट्रार जनरल इंडिया 2001 ''सैम्पल रजिस्ट्रेशन सिस्टम बुलेटिन'' खंड नं. 35 अप्रेल 2001 नई दिल्ली
रजिस्ट्रार जनरल तथा जनसंख्या कमिश्नर 2001 ''प्रोविजनल पॉप्यूलेशन टोटल्स'' पर्चा-1, 2001
भारतीय जन गणना 2001 नई दिल्ली
साक्षी 1998 ''जस्टिस ऑन जैंडर'' नई दिल्ली
शिवदास, अखिला 1996, ''मीडिया, ऐज़ अ चेंज एजेन्ट : कोपिंग विद प्रेशर्स एण्ड चैलेन्जेज़'', ''साइट ऑफ चेंज'' से, एन राव, एल. रूइरूप तथा आर. सुदर्शन (सम्पा.) फ्रेडरिक एबर्ट स्टीफंग तथा यू एन डी पी नई दिल्ली
प्रोब दल 1999 ''पब्लिक रिपोर्ट ऑन बेसिक एज्यूकेशन'' ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस नई दिल्ली
संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम 2000 ''मानव विकास रिपोर्ट 2000''
संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम 2001 ''मानव विकास रिपोर्ट 2001'' ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, न्यूयॉर्क
विसारिया लीला, 1999 वॉयलैंस अगेंस्ट विमैन इन इंडिया, ऐवीडेन्स फ्रॉम. रूरल गुजरात'' ''डॉमेस्टिक वॉयलैंस इन इंडिया : अ समरी रिपोर्ट ऑफ़ थ्री स्टडीज़'' से, इन्टरनैशनल सैंटर फॉर रिसर्च ऑन विमैन, वाशिंगटन, डी. सी.